नया हिन्दी साहित्य : एक भूमिका

: लेखक :

प्रकाशचन्द्र गुप्त

स्वर्गीया रामेश्वरी गोयल

को

आवेदन

यह पुस्तक सन् १९३६ के लगभग लिखे निबन्धों का संग्रह है। इस बीच में लेखक का प्रगतिवादी दृष्टिकोण विकसित हुआ है, और साहित्य की गति में भी अनेक परिवर्त्तन हुए हैं। फिर भी इन निबन्धों में हिन्दी के पाठकों को कुछ काम की बातें मिल सकती हैं। इसीलिए पुस्तक का नया संस्करण प्रस्तुत किया जा रहा है।

पुस्तक में केवल साहित्यिक प्रवृत्तियों का ही दिग्दर्शन है। संपूर्णता का दावा पुस्तक नहीं करती। अनेक कवि और लेखक जिनका आलोचक आदर करता है, इन निबन्धों में छूट गये हैं।

प्रयाग, प्रकाशचन्द्र गुप्त।
१ जून १९५३।

लेख-सूची

हिन्दी-साहित्य की प्रगति

१

मनुष्य निरन्तर अपने वातावरण से युद्ध करता है और प्रकृति की विराट् शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष करके अपने में नया बल अनुभव करता है। इस संघर्ष में उत्पन्न हुई अनुभूतियों को वह कला से सजाता है। इस प्रकार काव्य, संगीत, चित्रकला आदि का जन्म होता है। भारत के कृषि-प्रधान आर्य समाज ने अपने अनुभव को वेदों की ऋचाओं में सजाया; दूर अमरीका के 'रेड इंडियन्स' ने आखेट जीवन के चित्र अपनी गुफाओं की दीवारों पर बनाये; किन्तु इस कला-प्रयास के पीछे मूल प्रेरणा एक ही थी; स्थूल-जीवन से संघर्ष का अनुभूतिरंजित वर्णन।

आगे चलकर संस्कृति के विकास के साथ संघर्ष की भावना अदृष्ट होती दीखती है, किन्तु मूल स्रोत में अवश्य रहती है। इस प्रकार कला मनुष्य के भौतिक जीवन का प्रतिबिम्ब है और संघर्ष के क्षणों को हल्का करने का प्रयास भी।

संस्कृति का इतिहास आदिम काल के सामूहिक जीवन से आरम्भ होता है। मनुष्य ने सभ्यता का पहला पाठ सबके साथ मिल-बाँटकर खाना सीखा। कृषि-समाज के साथ भूमि व्यक्ति की सम्पत्ति बनी और समाज दो भागों में बँट गया; एक वर्ग के हाथ में सत्ता थी, दूसरा शासित था। शताब्दियों से कला शासक वर्गों की भावनाओं का प्रतिबिम्ब रही है, क्योंकि शासित वर्ग के पास अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति के कोई विशेष साधन न थे। शासित वर्ग की भावनाएँ लोक-गीतों में और लोक-कला के अन्य रूपों में प्रसार पाती रहीं। लेकिन यह कला दबी-दबी जीवन-यापन करती रही।

शासक वर्ग की कला को हम एक ऐतिहासिक क्रम में देख सकते हैं, यद्यपि सब देशों में एक साथ यह क्रम नहीं मिलता। संगठित समाज से पहले भी कला के चिह्न हमें मनुष्य के इतिहास में मिलते हैं। आखेट-जीवन में भी कला के अणु थे। भारत के भील अथवा अफ्रीका के बौने अपने धनुष-बाण, भाले और कटार कला से सजाते हैं। कुछ बर्बर जातियाँ अपने शरीर को लाल-नीले रंगों से रँगती थीं, जिससे शत्रु भयभीत हो जायँ। गोचर समाज में कविता का अनन्य विकास हुआ, इसका उदाहरण आर्य और यहूदी जातियों का प्राचीन साहित्य है।

कृषि-प्रधान समाज में कला चरमोन्नति पर पहुँची, इसका साक्षी मिस्र, बेबिलन, ऐसीरिया, यूनान, रोम, भारत और चीन का इतिहास है। शासक-वर्ग की संस्कृति का यह उषःकाल था और उसमें गति और शक्ति थी। इस संस्कृति के सर्वेसर्वा समाज के पुरोहित और पंडित थे, क्योंकि उन्हीं के मंत्रों के बल से वर्षा होती थी।

कृषि-प्रधान समाज कालान्तर में सामन्ती समाज में परिणत हुआ, जब उत्पादक शक्तियों का प्रबन्ध सामन्तों के हाथ में आया। सामन्ती वर्ग भूमि का स्वामी था और भू-दासों के श्रम पर उनका जीवन अवलंबित था। सामन्ती-समाज के अनुरूप उनकी कला का भी विकास हुआ, जिसमें अनन्त अवकाश-प्राप्त व्यक्तियों के विलास और क्रीड़ा का चित्रण था: "गलीचा, गुनीजन, तान-तुक-ताला, मसाला, चित्रशाला" आदि। ह्रासोन्मुखी सामन्ती समाज की कला शृंगार में इतनी विभोर हुई कि उनकी भावना भी इसी रंग में रँग गई। राधा और कृष्ण उनकी कला के नायक-नायिका बन गये। इस कला की मधुरिमा स्वास्थ्यकर किसी प्रकार भी न थी।

सामन्ती संस्कृति की एक विशेष अभिव्यक्ति भारतीय संगीत है। अनन्त अवकाश-प्राप्त समाज में ही इसकी साधना सफल हो सकती है। कमल के फूल की पंखुड़ियाँ अथवा आइन्सटाइन के किसी 'फ़ॉर्म्यूला' के

समान भारतीय राग की आत्मा खुलती है, और ध्वनियों के दुहराने में घण्टों के संयम की आवश्यकता है। मध्य युग के उन मनोहर नक्शों को हमारे संगीतकार आज भी दुहरा रहे हैं, और भारतीय संगीत एक बहुत ही संकुचित वर्ग की पूँजी बन गया है जिसका उपभोग पूरा शासक वर्ग भी नहीं कर सकता। समाज की रूप-रेखा में क्रान्तिकारी परिवर्त्तन हो चुके हैं; अब न वह समाज है, न वह अवकाश कीर्त्तन, क़व्वाली अथवा आल्हा के समान बोधगम्य संगीत हमें भविष्य में विकसित करना होगा, यद्यपि उसकी प्रेरणा पुजारी अथवा सामरिक जीवन से न होकर सर्वसाधारण के जीवन से होगी। इस संगीत में क्लासिकल परम्परा के सर्वश्रेष्ठ तत्त्व भी हम शामिल कर लेंगे।

मध्य युग के शासित-वर्गों में भी सदियों के उत्पीड़न से कविता का जन्म हुआ, जो भौतिक जीवन को भुलाकर अदृश्य में लीन होने की कामना लेकर आई। निम्न शासित वर्गों की भौतिक जीवन के प्रति यह स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी। इस जीवन में आशा के कोई चिह्न न देख ब्रह्मरन्ध्र में उन्होंने अपने प्राण खींच लिये और कहने लगे, यह जग सब माया का खेल है:—

> साधो एक रूप सब माँही
> अपने मन विचारि के देखो और दूसरा नाहीं। (कबीर)

अथवा

> 'जो नर दुख में दुख नहिं मानै।
> सुख सनेह और भय नहिं जाके, कंचन माटी जानै।....' (नानक)

इस प्रकार उनके पीड़ित हृदय को अध्यात्म का "मधु-मरहम" मिला। किन्तु यह कवि विद्रोही कवि भी थे और उन्हें प्रचलित समाज-व्यवस्था किसी प्रकार भी स्वीकार न थी।

क्रमशः सामन्ती समाज का ह्रास हुआ और उसका स्थान एक नवीन उत्पादन-पद्धति ने ग्रहण किया। पुराने शासक धूल में मिल गये और

एक नवीन वर्ग ने सिर उठाया। इस वर्ग ने उत्पादन-शक्तियों का अपूर्व विकास किया और वर्ग-संस्कृति को अनेक क़दम आगे बढ़ाया। किन्तु यह व्यवसायी संस्कृति 'अर्थ' को उसी प्रकार अपना सर्वस्व मानती है, जैसे सामन्ती संस्कृति 'काम' को। अपने उषःकाल में इस संस्कृति ने कविता, उपन्यास और अन्य कलाओं को ख़ूब विकसित किया, किन्तु आज जब उसके प्राण संकट में हैं, उसने कला से वैराग्य लिया है। इस वर्ग-संस्कृति के शासन में कविता संसार से विलीन हो रही है, रंगमंच सूने पड़े हैं और कलाकार अंदर ही अंदर घुटकर टोलर के समान आत्महत्या कर लेते हैं।

कविता से पूँजीपति कुछ अधिक न कमा सके। नाटक के स्थान पर उन्होंने सिनेमा और सङ्गीत-प्रहसन चालू कर करोड़ों बनाये। इस कला में जीवन का बहुत नीचा मूल्यांकन है। धन-उपार्जन का सर्वोत्तम साधन उन्हें उपन्यास मिला। इस युग में शिक्षा और छापे का काफ़ी प्रसार हुआ और इसके फलस्वरूप कहानी लोक-प्रिय बनी। इस कहानी का मूल आधार शासक वर्ग की मनोरञ्जन-वृत्ति और रस-प्रेरणा थी, अतः उपन्यासकार अपने वर्ग-जीवन का शाश्वत-त्रिकोण—यानी अ ने ब से प्रेम किया; ब ने स से; स ने अ से—अपनी कृति में बार-बार दुहराने लगा। इस कारण कुछ काल के बाद साहित्य के इस नये अंग में भी कुछ बल न रह गया और वह निर्जीव, मृतप्राय होने लगा।

संसार में पूँजीवादी संस्कृति आज क्षयग्रस्त है। शासक-दल दो टुकड़ियों में बँटकर बार-बार प्राणघातक समर में लीन हुआ है। जगत् के अधिकांश साहित्यकार अपने वर्ग-बंधन से असहाय इस ताण्डव नर्त्तन को देख रहे हैं और कुछ कर नहीं पाते। किन्तु फिर भी कुछ महान विचारक जैसे रोम्या रोलाँ, आइन्सटाइन, शॉ, वेल्स, टैगोर इस दलदल से संस्कृति का शकट निकालने में प्राणपण से लीन रहे हैं।

शासक-दल अब साहित्य और कला का बहिष्कार करने लग गया

है। वह कविता की अपेक्षा श्रम से अधिक रुपया कमा सकता है। उसके ध्वंसात्मक खेल से कलाकार ग्लानि भी करने लगे हैं। कला वर्ग-स्वार्थों का पूरी तरह सङ्कट काल में साथ नहीं दे रही। अतः पश्चिम में रही-सही विचार-स्वतन्त्रता भी नष्ट हो रही है। जर्मनी में गाड़ियाँ भर-भर किताबें जला दी गईं, फ्रान्स के बन्दी-गृह वाम-पार्श्व के कलाकारों से पटे पड़े थे। हमारे देश में स्वतन्त्र विचारों की पुस्तकें आसानी से घुसनें नहीं पातीं।

आज पूँजीवादी संस्कृति संक्रान्ति काल में है। उसके त्राण की भी कोई आशा नहीं। इस संस्कृति के भग्नावशेषों को हटाकर हम एक नवीन विराट् संस्कृति की नींव रक्खेंगे, जो विशेष वर्ग की पूँजी न होकर एक वर्ग-हीन समाज की जीवन-प्राण होगी। वायु और जल के समान वह भविष्य में जन-जन के लिए सुलभ होगी। 'अर्थ' और 'काम' की साधना अथवा शृंखला न होकर वह मनुष्य के आगे बढ़ने का पथ प्रशस्त करेगी।

मनुष्य का जीवन गतिशील है। संकुचित विचारों की परिधि में फँसे कुछ कलाकार यद्यपि गति-रुद्ध हैं, जीवन की शक्तियाँ हमें आगे बढ़ाती ही रहती हैं। इन शक्तियों की गति में कुछ क्षणों के लिए हम अवरोध डाल सकते हैं, किन्तु सदैव के लिए उन्हें रोक नहीं सकते। हमें निश्चय करना है, क्या साहित्य समाज की प्रगति में सहायक बनेगा, अथवा तटस्थ रहने के भ्रम में प्रतिगामी शक्तियों की मदद करेगा।

सर्वहारा की सेना आगे बढ़ रही है। उसकी विजय निश्चित है। विश्व की नवीन-समाज-व्यवस्था शोषण और शोषक दल का सदा के लिए अन्त कर देगी। नवीन संस्कृति इतिहास में पहली बार पूर्ण रूप से जन-सत्तात्मक होगी। तब आदिम-युग का अन्त होगा और सच्ची सभ्यता का आरंभ। उस सभ्यता की कल्पना करना भी हमारे लिए कठिन है।

इस आनेवाले युग में पृथ्वी, जल, वायु पर मनुष्य-मात्र का अधिकार होगा। रंग-मंच, सिनेमा-गृह, चित्रशालाएँ, रेडियो और उत्कृष्ट-संगीत की ध्वनि से मुखरित पार्क सर्वसाधारण के लिए खुले होंगे; आवश्यकता के

एक नवीन वर्ग ने सिर उठाया। इस वर्ग ने उत्पादन-शक्तियों का अपूर्व विकास किया और वर्ग-संस्कृति को अनेक क़दम आगे बढ़ाया। किन्तु यह व्यवसायी संस्कृति 'अर्थ' को उसी प्रकार अपना सर्वस्व मानती है, जैसे सामन्ती संस्कृति 'काम' को। अपने उषःकाल में इस संस्कृति ने कविता, उपन्यास और अन्य कलाओं को ख़ूब विकसित किया, किन्तु आज जब उसके प्राण संकट में हैं, उसने कला से वैराग्य लिया है। इस वर्ग-संस्कृति के शासन में कविता संसार से विलीन हो रही है, रंगमंच सूने पड़े हैं और कलाकार अंदर ही अंदर घुटकर टोलर के समान आत्महत्या कर लेते हैं।

कविता से पूँजीपति कुछ अधिक न कमा सके। नाटक के स्थान पर उन्होंने सिनेमा और सङ्गीत-प्रहसन चालू कर करोड़ों बनाये। इस कला में जीवन का बहुत नीचा मूल्यांकन है। धन-उपार्जन का सर्वोत्तम साधन उन्हें उपन्यास मिला। इस युग में शिक्षा और छापे का काफ़ी प्रसार हुआ और इसके फलस्वरूप कहानी लोक-प्रिय बनी। इस कहानी का मूल आधार शासक वर्ग की मनोरञ्जन-वृत्ति और रस-प्रेरणा थी, अतः उपन्यास-कार अपने वर्ग-जीवन का शाश्वत-त्रिकोण—यानी अ ने ब से प्रेम किया; ब ने स से; स ने अ से—अपनी कृति में बार-बार दुहराने लगा। इस कारण कुछ काल के बाद साहित्य के इस नये अंग में भी कुछ बल न रह गया और वह निर्जीव, मृतप्राय होने लगा।

संसार में पूँजीवादी संस्कृति आज क्षयग्रस्त है। शासक-दल दो टुकड़ियों में बँटकर बार-बार प्राणघातक समर में लीन हुआ है। जगत् के अधिकांश साहित्यकार अपने वर्ग-बंधन से असहाय इस ताण्डव नर्त्तन को देख रहे हैं और कुछ कर नहीं पाते। किन्तु फिर भी कुछ महान विचा-रक जैसे रोम्या रोलाँ, आइन्सटाइन, शॉ, वेल्स, टैगोर इस दलदल से संस्कृति का शकट निकालने में प्राणपण से लीन रहे हैं।

शासक-दल अब साहित्य और कला का बहिष्कार करने लग गया

है। वह कविता की अपेक्षा बम से अधिक रुपया कमा सकता है। उसके ध्वंसात्मक खेल से कलाकार ग्लानि भी करने लगे हैं। कला वर्ग-स्वार्थों का पूरी तरह सङ्कट काल में साथ नहीं दे रही। अतः पश्चिम में रही-सही विचार-स्वतन्त्रता भी नष्ट हो रही है। जर्मनी में गाड़ियों भर-भर किताबें जला दी गई, फ्रान्स के बन्दी-गृह वाम-पार्श्व के कलाकारों से पटे पड़े थे। हमारे देश में स्वतन्त्र विचारों की पुस्तकें आसानी से घुसने नहीं पातीं।

आज पूँजीवादी संस्कृति संक्रान्ति काल में है। उसके त्राण की भी कोई आशा नहीं। इस संस्कृति के भग्नावशेषों को हटाकर हम एक नवीन विराट् संस्कृति की नींव रक्खेंगे, जो विशेष वर्ग की पूँजी न होकर एक वर्ग-हीन समाज की जीवन-प्राण होगी। वायु और जल के समान वह भविष्य में जन-जन के लिए सुलभ होगी। 'अर्थ' और 'काम' की साधना अथवा शृंखला न होकर वह मनुष्य के आगे बढ़ने का पथ प्रशस्त करेगी।

मनुष्य का जीवन गतिशील है। संकुचित विचारों की परिधि में फँसे कुछ कलाकार यद्यपि गति-रुद्ध हैं, जीवन की शक्तियाँ हमें आगे बढ़ाती ही रहती हैं। इन शक्तियों की गति में कुछ क्षणों के लिए हम अवरोध डाल सकते हैं, किन्तु सदैव के लिए उन्हें रोक नहीं सकते। हमें निश्चय करना है, क्या साहित्य समाज की प्रगति में सहायक बनेगा, अथवा तटस्थ रहने के भ्रम में प्रतिगामी शक्तियों की मदद करेगा।

सर्वहारा की सेना आगे बढ़ रही है। उसकी विजय निश्चित है। विश्व की नवीन-समाज-व्यवस्था शोषण और शोषक दल का सदा के लिए अन्त कर देगी। नवीन संस्कृति इतिहास में पहली बार पूर्ण रूप से जन-सत्तात्मक होगी। तब आदिम-युग का अन्त होगा और सच्ची सभ्यता का आरंभ। उस सभ्यता की कल्पना करना भी हमारे लिए कठिन है।

इस आनेवाले युग में पृथ्वी, जल, वायु पर मनुष्य-मात्र का अधिकार होगा। रंग-मंच, सिनेमा-गृह, चित्रशालाएँ, रेडियो और उत्कृष्ट संगीत की ध्वनि से मुखरित पार्क सर्वसाधारण के लिए खुले होंगे; आवश्यकता के

अनुसार साहित्य और कला की सामग्री सभी को उपलब्ध होगी। तब पहली बार मनुष्य स्वतन्त्र और सुसंस्कृत होगा। प्रगति का अगला क़दम मनोवैज्ञानिक गुत्थियों को सुलझाना होगा। तब समाज में न चोर होंगे, न पागल।

इस महान यज्ञ में साहित्यिकों का सहयोग युग-धर्म माँग रहा है। यही प्रगति का पथ है। समाज का संकट देखते हुए कलाकार के लिए और कोई रास्ता नहीं रह गया है।

२

आधुनिक युग हमारे देश में एक नया जीवन और उत्साह लाया है। इस पुनर्जन्म का संदेश साहित्य की रग-रग और कोपलों तक में पहुँच चुका है। अब हम किस दिशा की ओर बढ़ें, यह प्रश्न हमारे सामने उठता है।

साहित्य जीवन से बँधा है। जब वह जीवन से अलग हो जाता है, तभी उसका पतन शुरू होता है। हिन्दी की अखंड काव्य-धारा जीवन के स्रोत से ही फूटकर निकली थी। तुलसी, सूर, मीरा अथवा कबीर की पदावली देश के प्रतिनिधि-भावों से प्रेरित हुई थी, जैसे देश का मूक जीवन अनायास ही मुखरित हो उठा हो। यही कारण है कि तुलसी और सूर हिन्दी-साहित्य के अमर कलाकार हैं।

रीतिकाल की कविता हल्की उतरती है, क्योंकि उसकी प्रेरणा भारतीय जन-समाज की आशा, आकांक्षाएँ न थीं; वह केवल उच्च-वर्ग की विलास-सामग्री बन गई थी।

आज यद्यपि हमारे साहित्य का काया-कल्प हुआ है और जीवन-भार से हिन्दी-साहित्य आकुल है, यह आशंका हमारे मन में उठती है कि हमारा साहित्य पुरातन के खँडहरों पर अश्रुपात करता ही न रह जाय!

पुराने युग का अन्त और नये का जन्म—हम देख रहे हैं। भारत में

ही नहीं, सारे संसार में। प्रत्येक जन्म के साथ पीड़ा रहती है। इस विलीन होती हुई प्राचीन संस्कृति का जितना अच्छा 'Swan Song' गाल्ज़वर्दी ने गाया, शायद किसी और कलाकार ने नहीं। वही मर्सिया आज हम हिन्दी के काव्य में भी सुनते हैं। अपने साहित्य की इस अन्तर्वेदना को समझने के बाद नई आशा, अभिलाषाएँ, देश के जीवन में होती हुई क्रान्ति और भावों के संघर्ष हम कला में प्रतिबिम्बित देखना चाहते हैं।

हमारे कवियों ने अकसर जीवन से मुख मोड़ कर 'अनन्त' को अपना राग सुनाया है। हमारे कहानीकार केवल मध्य-श्रेणी के जीवन-चित्र खींचने में लगे हैं। प्रेमचन्द ने अवश्य ही फ़ैक्टरी और बाजार-हाटों में जो नई पुकार उठी है, उसे सुना था और उनकी कला में हमें इसकी प्रतिध्वनि मिलती है। हिन्दी के एकांकी नाटककार 'प्रसाद' अतीत के सुनहले सपने देखने में तल्लीन जीवन के दुःसह दुःस्वप्न न देख सके। इस ओर उन्होंने अपना ध्यान 'कंकाल' और 'तितली' में दिया।

पन्त के 'परिवर्त्तन' में देश का क्रन्दन व्यापक नाद कर उठा है। कवि के हृदय की अन्तर्वेदना यहाँ विवश हाहाकार कर उठी है।

'आज तो सौरभ का मधुमास
शिशिर में भरता सूनी साँस

वही मधुऋतु की गुञ्जित डाल
झुकी थी जो यौवन के भार,
अकिञ्चनता में निज तत्काल
सिहर उठती,—जीवन है भार!

आज पावस-नद के उद्गार
काल के बनते चिह्न कराल;
प्रात का सोने का संसार
जला देती संध्या की ज्वाल!

अखिल यौवन के रंग उभार
हड्डियों के हिलते कंकाल;
कचों के चिकने, काले व्याल
केंचुली, काँस, सिवार;
गूँजते हैं सबके दिन चार,
सभी फिर हाहाकार !!'

'रूपाभ' के जन्म-काल से पन्तजी के काव्य का भी पुनर्जन्म हुआ, और आपके 'छन्द के बन्ध' खुल गये। 'ग्राम्या' अभी तक पन्त की सर्व-सबल कृति है।

'निराला' के काव्य में एक नया ही गति-प्रवाह और संगीत है। जब वे स्वयं अपनी कविता पढ़ते हैं तो उनके स्वर की गम्भीरता और सङ्गीत-ज्ञान के कारण मन पर काफ़ी प्रभाव पड़ता है। काव्य-परम्परा से उनका घोर विरोध है, विशेषतः टेकनीक के मामले में। आपने मुक्त छन्दों में कविता की है और कभी-कभी आपकी पंक्तियों का भग्न सङ्गीत हमको ब्राउनिङ्ग का स्मरण दिला देता है, जैसे पन्त के लम्बे बाल और उनका मधुर व्यक्तित्व शैली का। 'निराला' के काव्य में नवयुग की प्रतिध्वनि हमें स्पष्ट मिलती है :

'हमारा डूब रहा दिनमान !
मास-मास दिन-दिन प्रतिपल
उगल रहे हों गरल-अनल,
जलता यह जीवन असफल;
हिम-हत-पातों-सा असमय ही
झुलसा हुआ शुष्क निश्चल !
निकल डालियों से
झरने पर ही हैं पल्लव-प्राण !
हमारा डूब रहा दिनमान !'

भिक्षुक के प्रति आप कहते हैं :

'वह आता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को
मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।'

निराला हिन्दी के क्रान्तिकारी कवि हैं और नये युग के निर्माण में उनका हाथ काफ़ी रहा है। आपके सुन्दर गीत पढ़कर हम यह भी सोचते हैं कि शायद किसी और युग तथा काल में केवल मधुर गीत बनाने में आप तल्लीन रहते। अनायास ही फूल के समान आपका स्वर खिल उठता है :

'प्रिय, मुद्रित दृग खोलो!
गत स्वप्न-निशा का तिमिर जाल
नव किरणों से धो लो—
मुद्रित दृग खोलो!'

इधर 'निराला'जी ने 'कुकुरमुत्ता' और 'नये पत्ते' में एक नये संगीत और दलितों के प्रति सदय भाव की अभिव्यक्ति की है।

श्री महादेवी वर्मा का काव्य आँसुओं से भीगा है। कौन जाने बुद्ध की विचार-धारा का यह प्रभाव है, अथवा उनके अपने जीवन की कोई भारी पीड़ा? श्रीमती वर्मा के गीत बहुत ही सुकुमार और मीठे हो उठे हैं :

'मधुर-मधुर मेरे दीपक जल!
युग-युग प्रतिदिन प्रतिक्षण प्रतिपल;
प्रियतम का पथ आलोकित कर!

सौरभ फैला विपुल धूप बन ;
मृदुल मोम-सा घुल रे मृदु तन ;
दे प्रकाश का सिन्धु अपरिमित
तेरे जीवन का अणु गल गल !'

जग के राग-द्वेष से अलग मानो कवि ने यह प्रेम का अलख जगाया है। आशा है इन गीतों का आलोक कविता-प्रेमी का पथ सदा आलोकित करता रहेगा।

प्रेमचन्द गाँवों में रहे थे। ग्रामीणों के हृदय की बात वह खूब समझते थे। भारतीय किसान को अभी तक इतना सफल साहित्यिक प्रतिनिधि और नहीं मिला। प्रेमचन्द सफल कलाकार होने के साथ-साथ देश के जीवन से बँधे थे। काल की गति के साथ उनकी कला का मूल्य कम न होगा, वरन् अधिक ही आँका जायगा। मध्ययुग की समाजयोजना उनकी किसान-गाथाओं में भविष्य के लिए सुरक्षित मिलेगी। इसी प्रकार गॉल्ज़वर्दी के Forsyte Saga में इंगलैंड के मध्य-वर्ग का चित्र इतिहासवेत्ताओं को आकर्षित करता रहेगा।

इस पीढ़ी के कलाकारों में विद्रोह की भावना भगवतीचरण वर्मा में बहुत प्रबल थी। इस युग की रीति-नीति से उनका घोर मतभेद है। विवेक के सहारे वे नये युग का निर्माण करने निकले हैं। उनके चित्र जनसाधारण के जीवन को नहीं छूते। नगरों में युवक-टोलियों के साथ उन्होंने सदा जीवन विताया है। उसी जीवन से उनकी अनुभूति और प्रेरणा है। आपका विचार-दर्शन अहम्परक रहा है।

जैनेन्द्र कुछ खोजने में व्यस्त हैं, पता नहीं क्या ? आशा है इस बड़ी भारी खोज के बाद उन्हें कुछ मिलेगा। अपना कोई नया ही पन्थ निकालने की वे धुन में हैं। रूढ़ि-ग्रस्त समाज का ढाँचा आपको भी रुचिकर नहीं, इसी कारण प्रगतिशील कलाकारों में हम आपकी गणना करते हैं। 'परख', 'सुनीता'—'त्याग-पत्र'—में आपकी विचार-धारा की

गति क्रान्तिकारी है। आशा है, आपका कोई निर्दिष्ट लक्ष्य भी है। बीहड़ में भटकते ही आप न रह जायँ, कभी-कभी यह आशंका मन में उठती है।

मधु के बहाने बच्चन ने भी परम्परा की रूढ़ियों का विरोध किया है—

'मैं हृदय में अग्नि लेकर,
एक युग से जल रहा हूँ।'

आपका मधु सांकेतिक है, यह स्पष्ट ही है :

"इस नीले अञ्चल की छाया में
जग-ज्वाला का झुलसाया
आकर शीतल करता काया,
मधु-मरहम का मैं लेपन कर
अच्छा करती उर का छाला।
मैं मधुशाला की मधुबाला!
'मधु घट ले जब करती नर्त्तन,
मेरे नूपुर की छूम-छनन
में लय होता जग का क्रन्दन।'
झूमा करता मानव-जीवन
का क्षण-क्षण बन कर मतवाला।
मैं मधुशाला की मधुबाला!"

नाटककारों में श्रीभुवनेश्वरप्रसाद का नाम विशेष उल्लेखनीय है, यद्यपि शॉ के ऋण-भार से आपने अपने को अधिक दबा लिया है। आपके 'कारवाँ' का दृश्य कुछ विचित्र कौतूहल और आकर्षण लिये है। मरु-भूमि की-सी प्यास लिये इस युग की अतृप्त आकांक्षाओं का यह 'कारवाँ' घंटियाँ बजाता अजीब उच्छृङ्खलता से हमारी आँखों के सामने से निकलता है। स्टेज के संकेतों में दिये—और अलग भी—आपके चित्र विशेष सफल हैं—

'कानपुर के पार्श्व-भाग में लज्जा से मुँह छिपाये कुलियों का निवास-स्थान।'

'एक बीस-बाईस वर्ष की युवती, मलिन वस्त्रों में इस प्रकार दीखती है, जैसे आँसुओं की नीहारिका में नेत्र।'

'पीछे घर का नौकर है जो भाग्य के समान काँप रहा है।'

इस साहित्य में पूँजीवादी वर्ग की विलीन होती हुई संस्कृति की स्पष्ट छाया है और जीवन के बहुत से सपने, आशा, अभिलाषाएँ, स्मृतियाँ।

३

आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास भारतेन्दु के साथ शुरू होता है। भारतेन्दु की रचना में हम मध्य युग के झुटपुटे आलोक से निकलकर वर्तमान के प्रकाश में आते हैं। इस युग में हिन्दी ने अपना कलेवर युग-धर्म के अनुकूल बदला। हिन्दी गद्य का निर्माण यहीं से शुरू होता है और मध्य-युग की प्रवृत्तियों से मुड़कर हिन्दी काव्य ने भी अपना ध्यान वर्तमान की ओर पलटा।

अंग्रेज़ी शासन के अन्तर्गत भारतीय समाज और संस्कृति में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे थे। नये आविष्कार और एक नई समाज-व्यवस्था, ब्रिटिश सत्ता के चिह्न हमारे बीच आये।

किन्तु सन् '५७ से ही भारत में ब्रिटिश सत्ता के प्रति असंतोष रहा है। मुग़ल शासन और ब्रिटिश शासन में यह अन्तर था कि मुग़ल भारत में बस गये थे। मुग़ल संस्कृति और किसी भी मुस्लिम देश की संस्कृति से विलग भारतीय संस्कृति थी। किन्तु अंग्रेज़ भारत के लिए सदैव विदेशी रहे। उनकी आँख हमेशा इंगलैण्ड पर लगी रही।

साहित्य जीवन का दर्पण है और जीवन की सभी भावनाओं का इसमें प्रतिबिम्ब मिलता है। भारतेन्दु की कृति में अंग्रेज़ी शासन के प्रति उत्साह है, क्योंकि भारतीय समाज को नये शासक वर्ग ने एक बुद्धिवादी संस्कृति के संपर्क में लाकर नया जन्म दिया। साथ ही आर्थिक और राजनैतिक

दासत्व के प्रति इस साहित्य में विरोध-भाव भी है। भारतेन्दु का नाटक 'भारत-दुर्दशा' देश की जागृति का प्रथम चिह्न है।

'रोवहु सब मिलि कै आवहु भारत-भाई।
हा हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई॥
सबके पहिले जेहि ईश्वर धन बल दीनो।
सबके पहिले जेहि सभ्य विधाता कीनो॥
सबके पहिले जो रूप रङ्ग रस भीनो।
सबके पहिले विद्याफल निज गहि लीनो॥
अब सबके पीछे सोई परत लखाई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥

× × ×

'अँगरेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन विदेस चलि जात इहै अति ख्वारी॥
ताहू पै मँहगी काल रोग बिस्तारी।
दिन-दिन दूने दुख ईश देत हा हा री॥
सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई।
हा हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई॥'

भारतेन्दु के अन्य समकालीन कवियों में भी इस जागृति के लक्षण प्रकट हुए हैं, श्री बदरीनारायण चौधरी, श्री प्रतापनारायण मिश्र, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' आदि। बंग-भंग के कारण पूरे देश में बिजली-सी दौड़ गई। इसी समय बंकिम बाबू ने अपने क्रान्तिकारी उपन्यास लिखे और 'वन्देमातरम्' गीत की रचना की। हिन्दी के कवियों ने हास्य की शरण ली। श्री बालमुकुन्द गुप्त ने 'भारतमित्र' में अंग्रेजी सरकार बदलने पर लिखा:

'टोरी जायें, लिबरल आयें। भारतवासी धूम मचायें॥
जैसे लिबरल वैसे टोरी। जो परनाला वो ही मोरी॥ होली....'

हिन्दी के जनवादी साहित्य में अगला क़दम 'भारत-भारती' था।

इस पुस्तक का हिन्दी संसार में ख़ूब प्रचार हुआ और पहले सत्याग्रह आन्दोलन के समय तो यह तरुण देश-भक्तों की बाइबिल बन गई। श्री मैथिलीशरण गुप्त की कविता पहले से अब बहुत निखर चुकी है, किन्तु 'भारत-भारती' की लोकप्रियता उनकी अन्य किसी पुस्तक को अब तक नहीं मिली। गुप्त जी ने देशभक्ति की कविता परिमाण में काफ़ी लिखी। 'मातृभूमि' का आपने कितना सुन्दर चित्र खींचा है :

'नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है।
सूर्य - चन्द्र युग मुकुट मेखला रत्नाकर है॥
नदियाँ प्रेम - प्रवाह, फूल तारे मण्डन हैं।
वन्दीजन खगवृन्द, शेषफन सिंहासन हैं॥
करते अभिषेक पयोद हैं, बलिहारी इस वेष की।
हे मातृभूमि! तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की॥

× × ×

निर्मल तेरा नीर अमृत के सम है।
शीतल-मन्द-सुगन्ध पवन हर लेता श्रम है॥
षट् ऋतुओं का विविध दृश्ययुत अद्भुत क्रम है।
हरियाली का फ़र्श नहीं मख़मल से कम है॥
शुचि सुधा सींचता रात में तुझ पर चन्द्र प्रकाश है।
हे मातृभूमि! दिन में तरणि करता तम का नाश है॥
सुरभित, सुन्दर, सुखद सुमन तुझ पर खिलते हैं।
भाँति-भाँति के सरस सुधोपम फल मिलते हैं॥
औषधियाँ हैं प्राप्त एक से एक निराली।
खानें शोभित कहीं धातु वर रत्नोंवाली॥
जो आवश्यक होते हमें मिलते सभी पदार्थ हैं।
हे मातृभूमि! वसुधा, धरा तेरा नाम यथार्थ है॥

दीख रही है कहीं दूर तक शैल-श्रेणी।
कहीं घनावलि बनी हुई है तेरी वेणी॥
नदियाँ पैर पखार रही हैं बनकर चेरी।
पुष्पों से तरु-राजि कर रही पूजा तेरी॥
मृदु मलय वायु मानो तुझे चन्दन चारु चढ़ा रही।
हे मातृभूमि! किसका न तू सात्त्विक भाव बढ़ा रही॥'

गांधीजी के सत्याग्रह-आन्दोलन का देश के जीवन पर अभूतपूर्व प्रभाव पड़ा। अनेक लेखक और कवि इस तूफ़ान में बह गये। इनमें अग्रगण्य प्रेमचन्द, 'एक भारतीय आत्मा', 'नवीन' और श्रीमती सुभद्रा-कुमारी चौहान थे।

स्व० प्रेमचन्द ने दृढ़ हाथों से साहित्य का रुख़ जीवन की ओर पलटा। भारत की ग्रामीण और नागरिक समाज-योजना की आपने गम्भीर और मार्मिक विवेचना की। समाज के शोषक और शोषित वर्गों की पहेली को आपने समझा और इन समस्याओं का अपनी कहानियों में विशद चित्रण किया। स्व० प्रेमचन्द अपने जीवन के लगभग अन्त तक गांधी-वादी रहे और अपने साहित्य में इस आशा को स्थान देते रहे कि हृदय-परिवर्त्तन से समाज सुधर जायगा। यह आशा का अंकुर पहले 'प्रेमाश्रम' में लगा था, किन्तु 'गो-दान' में नष्ट हो चुका है। 'कफ़न' आदि कहानी भी हमें एक दूसरे ही दृष्टिकोण का आभास देती हैं। 'समर-यात्रा' का सन्देश यह महारथी हमें निरन्तर सुनाता रहा। आपकी रचना को हम किसानों का अमर गीत कह सकते हैं।

राष्ट्रीय जाग्रति के साथ अनेक गायक भी पैदा हुए, इनमें सबसे अधिक प्रभावशाली 'नवीन' थे। आपने लिखा था :

"कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ—जिससे उथल-पुथल मच जाये।
एक हिलोर इधर से आये एक हिलोर उधर से आये।

प्राणों के लाले पड़ जायें त्राहि-त्राहि रव नभ में छाये।
नाश और सत्यानाशों का धुआँधार जग में छा जाये।
बरसे आग, जलद जल जायें, भस्मसात् भूधर हो जायें।
पाप-पुण्य, सदसद्भावों की, धूल उड़ उठे दायें बायें।
नभ का वक्षस्थल फट जाये, तारे टूक-टूक हो जायें।
कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाये॥"

आपने 'गान्धी गुरुदेव', 'मानव', 'पराजय-गान' आदि अनेक शक्ति-पूर्ण कविताएँ लिखीं। गान्धीजी को आपने 'ओ क्षुरस्य-धारा-पथ-गामी!' कहकर सम्बोधित किया है। 'पराजय-गान' पहले सत्याग्रह-आन्दोलन की पराजय के बाद लिखा गया था :

'आज खड्ग की धार कुण्ठिता, है ख़ाली तूणीर हुआ!
विजय-पताका झुकी हुई है, लक्ष्य-भ्रष्ट यह तीर हुआ—'

'मानव' लम्बी कविता है। इसमें आपने मनुष्य के विकास की रेखाएँ खींची हैं, आदिम युग से आज तक।

'नवीन' की श्रेणी में और भी अनेक समकालीन कवि आते हैं, 'एक भारतीय आत्मा', 'त्रिशूल-सनेही', श्री रामनरेश त्रिपाठी, सुश्री सुभद्रा-कुमारी चौहान। इन सभी के काव्य में भारत की राष्ट्रीय भावनाओं का उत्तेजित स्वर है।

इस संघर्ष के युग में देश अपनी पराधीनता और शृङ्खलाओं की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ। वह दुःसह भार न सहन कर सकने के कारण इस युग के कवियों ने कल्पना के जग में शरण ली। सर्वथा अन्त-र्मुखी होकर कवियों की प्रेरणा सोने-चाँदी के ताने-बानों से शब्द-जाल बुनने लगी। 'प्रसाद' अतीत के सपने देखने लगे। किन्तु ये कवि जीवन से विलग न हो पाये और एक मधुर पीड़ा-भार से उनका काव्य आक्रान्त हो उठा :

'मृग-मरीचिका के चिर पथ पर
सुख आता प्यासों के पग धर,
रुद्ध हृदय के पट लेता कर—'

छायावादी कवियों की रचना में देश का क्रन्दन निरन्तर प्रतिध्वनित हुआ है। पन्त का 'परिवर्तन' इसका उदाहरण है। इतिहास के स्वर्ण-पट को निरन्तर देखते हुए पन्त कहते हैं :

'कहाँ आज वह पूर्ण पुरातन, वह सुवर्ण का काल ?'

अतीत से वर्तमान की तुलना करके इस भीषण 'परिवर्तन' पर कवि का विकल हृदय हाहाकार कर उठा है :

'अहे निष्ठुर परिवर्त्तन !
तुम्हारा ही ताण्डव-नर्त्तन, विश्व का करुण-विवर्त्तन !
तुम्हारा ही नयनोन्मीलन, निखिल उत्थान, पतन !'

'युगान्त' की अन्तिम कविता 'बापू के प्रति' पन्त की प्रतिभा के एक युग के अन्त होने की सूचना थी। यद्यपि मनन और चिन्तन अब भी पन्त के प्रधान काव्य-गुण हैं, वह हमारी सामाजिक विडम्बना को देखते हैं, और कल्पना के गुम्बद से बाहर निकल आते हैं। 'युगान्त' से 'युग-वाणी' सहज और स्वाभाविक विकास-क्रम है। नरेन्द्र ने 'युग-वाणी' के पन्त को 'वर्गहीन बुद्धिवादी' कहा है। बहुत हद तक यह कविताएँ प्रयोगात्मक हैं। अतीत से मुड़कर वह वर्तमान और भविष्य की ओर उन्मुख हुए हैं। 'ग्राम्या' में पन्त ने अपना सर्वश्रेष्ठ काव्य रचा।

छायावादी कवियों ने हिन्दी काव्य के टेकनीक में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन किया और कविता को नया जीवन प्रदान किया। इस कार्य में 'निराला' सबसे आगे थे। आपने नये स्वरों और ताल में कविता का संगीत रचा। साथ ही आप देश के जीवन से विरक्त न थे :

'जागो फिर एक बार !
उगे अरुणाचल में रवि,

आई भारती-रति कवि कण्ठ में,
पल-पल में परिवर्तित होते रहे प्रकृति-पट
गया दिन, आई रात,
मुंदी रात, खुला दिन,
ऐसे ही संसार के
बीते दिन पक्ष-मास,
वर्ष कितने ही हज़ार।
जागो फिर एक बार!'

विचित्र स्वर-लहरी में सजा आप 'भारत की विधवा' के प्रति अपने विचार प्रकट करते हैं।

'वह इष्ट-देव के मन्दिर की पूजा-सी,
वह दीप-शिखा-सी शान्त, भाव में लीन,
वह क्रूर काल ताण्डव की स्मृति-रेखा-सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन—
दलित भारत की ही विधवा है।'

इन बन्धन-मुक्त छन्दों में आपने बन्दी समाज को स्वतन्त्रता और एक नये युग का सन्देश सुनाया है :

'ताल-ताल से रे सदियों के जकड़े हृदय-कपाट,
खोल दे कर-कर कठिन प्रहार—'

हिन्दी के आधुनिक प्रगतिशील कवियों में 'दिनकर' का स्थान उल्लेखनीय है। यौवन के स्वप्न और कल्पना आपने देश के ऊपर न्यौछावर कर दिये हैं। आपकी कविता कहती है :

'आज न उड़ के नील-कुञ्ज में स्वप्न खोजने जाऊँगी
आज चमेली में न चन्द्र-किरणों से चित्र बनाऊँगी—'

आप कल्पना के व्योम में उड़ने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु :

रह-रह पंखहीन खग-सा मैं गिर पड़ता भू की हलचल में ;
झटिका एक वहा ले जाती स्वप्न-राज्य आँसू के जल में।'

अब 'चाँदी का शंख' उठाकर आप उसमें 'भैरव-हुंकार' फूँक रहे हैं और इस युग को जय का सन्देश सुनाते हैं :

'जागरूक की जय निश्चित है, हार चुके सोनेवाले !
× × ×
मंज़िल दूर नहीं अपनी दुख का बोझा ढोनेवाले !'

'नई दिल्ली', 'विपथगा', 'हिमालय', 'भविष्य की आहट' आदि अनेक अमर गीतों की आपने रचना की है। क्रान्ति के अनेक शक्तिशाली चित्र आपने खींचे हैं :

'अँगड़ाई में भूचाल, साँस में लङ्का के उनचास पवन।'
× × ×
'मेरे मस्तक के छत्र मुकुट वसु-काल-सर्पिणी के शत फन
मुझ चिर कुमारिका के ललाट में नित्य नवीन रुधिर-चन्दन
आँजा करती हूँ चिता-धूम का दृग में अन्ध तिमिर-अंजन
संहार-लपट का चीर पहन नाचा करती मैं छूम-छनन—'
× × ×
'पायल की पहली झमक सृष्टि में कोलाहल छा जाता है
पड़ते जिस ओर चरण मेरे भूगोल उधर दब जाता है।'

'दिनकर' के काव्य का सबसे उपयुक्त विवेचन उन्हीं के शब्दों में हो सकता है :

'समय ढूह की ओर सिसकते मेरे गीत विकल धाये,
आज खोजते उन्हें बुलाते वर्तमान के पल आये।'

'वर्तमान के पल' आज हिन्दी के सभी कवियों को बुला रहे हैं। श्री भगवतीचरण वर्मा की 'भैंसागाड़ी' इसी प्रवृत्ति का इशारा है। नरेन्द्र ने 'प्रभात-फेरी' से 'ज्येष्ठ के मध्याह्न' और 'लाल निशान' तक इस पथ को

अपनाया है। 'प्रवासी के गीत' हमारी निराशा के गहरेपन का आभास देते हैं। जिस छायावाद से पन्त और 'निराला' ने हिन्दी के नवीन युग का श्रीगणेश किया था वह अस्तप्राय है। हिन्दी के नए कवि 'सुमन' नागार्जुन और रांगेय राघव की नई कविताएँ इस विचार की पुष्टि करती हैं।

इस परिवर्तन का बहुत कुछ श्रेय प्रगतिशील-लेखक-संघ को है। सन् १९३५ में नवम्बर के कोहरे-भरे दिनों में कुछ भारतीय विद्यार्थियों के एक छोटे-से दल ने नैनकिङ्ग रेस्टोराँ में भारतीय प्रगतिशील-लेखक-संघ की स्थापना की। इनमें डा० मुल्कराज आनन्द, सज्जाद ज़हीर आदि प्रमुख थे। पहली भारतीय कॉन्फ्रेंस लखनऊ में एप्रिल १९३६ में हुई। इसके सभापति स्वर्गीय प्रेमचन्द थे। दूसरी कॉन्फ्रेंस कलकत्ता में दिसम्बर १९३८ में रवि बाबू की अध्यक्षता में हुई। इन कुछ ही वर्षों में हमारे साहित्य और कला-सम्बन्धी विचारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ।

युद्ध और तानाशाही संस्कृति के सबसे बड़े शत्रु हैं। आत्म-रक्षा के लिए फ्रांस आदि देशों में लेखकों ने एक लोहे की दीवार-सी बना ली थी। भारत में आर्थिक विदेशी प्रभाव सामन्तशाही आदि शत्रु हमारी संस्कृति को नहीं पनपते देते। ऐसी अवस्था में लेखकों का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि सांस्कृतिक विकास के अनुकूल वातावरण की वह सृष्टि करें।

इस उद्देश्य से भारतीय लेखकों का एक छोटा-सा दल आगे बढ़ा। स्वर्गीय प्रेमचन्द, कवि श्री पन्त, नरेन्द्र, बेनीपुरी, शिवदानसिंह चौहान, यशपाल आदि इस आन्दोलन से प्रभावित हुए। इनकी रचना में समाज और संस्कृति के प्रति एक नये दृष्टिकोण का परिचय मिलता है। इस आन्दोलन से हमारे साहित्य में नया जीवन और बल आ गया है।

प्रगतिशील दल के एक मुख्य लेखक मुल्कराज आनन्द हैं। आपने अंग्रेज़ी में अनेक प्रभावशाली उपन्यास लिखे हैं। आपकी कुछ कहानियाँ हिन्दी में भी निकल चुकी हैं। आप निर्मम यथार्थवादी हैं। इसी श्रेणी में सज्जाद ज़हीर, अहमद अली आदि आते हैं। ज़हीर का एकांकी

'बीमार' और अहमद अली की कहानी 'हमारी गली' ख्याति पा चुके हैं। वास्तव में यह दोनों उर्दू के लेखक हैं। बेनीपुरी में हम इस आन्दोलन का प्रभाव अच्छी तरह तौल सकते हैं। बेनीपुरी हिन्दी के पुराने लेखक हैं, किन्तु आपकी रचना में नया उत्साह और बल आया। 'देहाती दुनिया' की 'लाल तारा' से कुछ तुलना नहीं। 'लाल तारा' नए साहित्य में अपना अलग स्थान रखती है। एक नये युग का सन्देश लेकर यह 'लाल तारा' हमारे आकाश में उदय हुआ। इसके बाद असंख्य नए लेखक प्रगतिशील साहित्य की पंक्तियों में आए हैं।

कविता

१

हिन्दी-साहित्य का 'सरस्वती' के प्रति विशेष आभार है, जिसने रूढ़िग्रस्त काव्य-परम्परा को नया पथ सुझाया। 'सरस्वती' के अभ्युदय काल तक हिन्दी की कविता ब्रजभाषा में लिखी जाती थी, किन्तु गद्य खड़ी बोली में। पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की नीति के कारण हिन्दी कविता की भाषा भी आधुनिक जीवन के अधिक निकट आ गई।

इस दृढ़ नींव पर आधुनिक हिन्दी कविता का भव्य प्रासाद खड़ा हुआ। श्री मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में प्रौढ़ता देर में आई। 'साकेत', 'यशोधरा' और 'पंचवटी' के सामने 'भारत-भारती' और 'जयद्रथ-वध' अपरिपक्व हैं। गुप्तजी का विशेष गुण आपकी भगवद्भक्ति और अनवरत अध्यवसाय है। कहते हैं कि कवि बन नहीं सकते, जन्मते हैं। यह कथन आप पर नहीं लागू होता। अपने सतत परिश्रम से ही आप कवि बने हैं। हिन्दी कविता के आज आप सिरमौर हैं और मर्म छूनेवाली कविता आपकी वाणी से फूटी है :

'सखि, वे मुझसे कहकर जाते,
स्वयं सुसज्जित करके रण में;
प्रियतम को प्राणों के पण में,
हमीं भेज देती हैं रण में;
क्षात्र धर्म के नाते।....'

आधुनिक हिन्दी कविता के वास्तविक युग-प्रवर्तक पन्त थे, यद्यपि 'प्रसाद' और 'निराला' समय में उनसे पहले आये। 'प्रसाद' और 'निराला' स्वयं बड़े कवि थे; किन्तु उनकी कविता का युवक-समाज पर वह प्रभाव नहीं पड़ा, जो पन्त का। पन्त की 'वीणा' ने मानो युगों की सोई कविता-कुमारी को अनायास ही जगा दिया।

इस नई हिन्दी कविता का 'छायावाद', 'रहस्यवाद', आदि नामकरण लेकर घोर वितण्डावाद भी चला, जो अब ठंडा पड़ गया है। अंग्रेज़ी और बँगला साहित्य की इस काव्य पर गहरी छाप थी। इस नये वेश-विन्यास में कविता-नागरी का रूप पुराने पारखी न समझ पाये।

नये ढंग के टूटे-से छंदों में नये ही विषयों पर यह कविगण अपने राग अलाप रहे थे। जो दूर देश से किसी अनजान शक्ति का सन्देश इन्हें मिला था, उसे किसी ने समझा, किसी ने नहीं। किन्तु ये अपना स्वर साधकर कहते ही रहे :

'हमें जाना है जग के पार।—
जहाँ नयनों से नयन मिले,
ज्योति के रूप सहस्र खिले,
सदा ही बहती नव-रस-धार—
वहीं जाना, इस जग के पार।'

कवि के चिर-अन्ध नयन खुलते ही उसने एक सुन्दर स्वर्णिम जग अपने चारों ओर पाया ·

'कौन तुम अतुल, अरूप, अनाम ?
अये अभिनव, अभिराम !'

यह विस्मय-भाव चाहे जिस नाम से पुकार लिया जाय, अनुभूति इस कविता में अवश्य थी।

नवयुग के सूत्रधार 'प्रसाद' आधुनिक हिन्दी कविता को आगे बढ़ाकर दिवंगत हो चुके हैं। 'आँसू', 'झरना', 'लहर' और 'कामायनी' लम्बी यात्रा के चिह्न चिरकाल तक आपके स्मारक रहेंगे। आधुनिक हिन्दी कविता का पीड़ा के प्रति मोह 'प्रसाद' की रचना से ही शुरू हो जाता है। 'आँसू' के मुख-पृष्ठ पर ही आपका यह छन्द था :

'जो घनीभूत पीड़ा थी
मस्तक में स्मृति-सी छाई,
दुर्दिन में आँसू बनकर
वह आज बरसने आई !'

'प्रसाद' उच्चकोटि के शिल्पकार हैं। आप मत-मतान्तर में नहीं फँसे। उच्च कला की सृष्टि आपका ध्येय था। सतत सुन्दरता की खोज में आप लगे रहे; जहाँ वह मिली, वहीं से उसे बटोर लिया।

'झरना' में 'प्रसाद' की कविता का प्रारम्भिक रूप है। आपके काव्य के यहाँ परमाणु हैं किन्तु मानो अभी बिखरे हुए हैं। आगे चलकर इन्होंने 'प्रसाद' के अनन्य जगत् की सृष्टि की :

'विश्व के नीरव निर्जन में।
जब करता हूँ बेकल, चंचल,
मानस को कुछ शान्त,
होती है कुछ ऐसी हलचल,
हो जाता है भ्रान्त;
भटकता है भ्रम के वन में,
विश्व के कुसुमित कानन में।'

'आँसू' 'प्रसाद' की कला का उत्कृष्ट नमूना है। यह कवि के हृदय का मर्मस्पर्शी क्रन्दन है—

'आती है शून्य क्षितिज से
क्यों लौट प्रतिध्वनि मेरी,
टकराती बिलखाती-सी
पगली-सी देती फेरी ?'

'आँसू' में अनेक सुन्दर चित्र हैं :

'शीतल ज्वाला जलती है,
ईंधन होता दृगजल का;
यह व्यर्थ साँस चल चलकर
करता है काल अनिल का।'

× × ×

'जल उठा स्नेह दीपक-सा
नवनीत हृदय था मेरा;
अब शेष धूल-रेखा से
चित्रित कर रहा अँधेरा।'

'आँसू' में कवि के हृदय की प्रणय-भावना भी व्यक्त हुई है। इन पंक्तियों में हिन्दी के आधुनिक रहस्यवाद की कुछ झलक है। कहीं-कहीं 'प्रसाद' की विलास-प्रियता भी दीख पड़ती है :

'शशि-मुख पर घूँघट डाले
अञ्चल में दीप छिपाये,
जीवन की गोधूली में
कौतूहल-से तुम आये !

× × ×

काली आँखों में कैसी
यौवन के मद की लाली,

मानिक-मदिरा से भर दी
किसने नीलम की प्याली !

× × ×

तुम सत्य रहे चिर सुन्दर,
मेरे इस मिथ्या जग के !
थे कमी न क्या तुम साथी
कल्याण-कलित मम-मग के ।'

'आँसू' के बाद 'प्रसाद' की कविता द्रुत-गति से आगे बढ़ी और आपने अनेक अमर पदों की रचना की ।

'बीती विभावरी, जाग री !
अम्बर पनघट में डुबो रही, तारा-घट ऊषा नागरी ।'

अथवा—

'ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे ।'

अन्त में अमर-काव्य 'कामायनी' की रचना कर आप इस लोक से चल दिये । 'कामायनी' हिन्दी-काव्य का एक उत्तुङ्ग गिरि-शृंग है और साहित्य को 'प्रसाद' की सबसे बड़ी देन । 'कामायनी' में 'प्रसाद' की कहानी, नाट्य और काव्यकला का अपूर्व सम्मिलन हुआ है ।

'निराला' जी हिन्दी कवियों में शक्ति के उपासक हैं । आपके काव्य में सहज माधुरी की अवहेलना-सी है, यद्यपि उमंग आने पर आप मीठी तान भी छेड़ सकते हैं । 'प्रसाद' जी को आपकी 'मतवाला' के मुख-पृष्ठ-वाली पंक्तियाँ बहुत पसन्द थीं :

'अमिय-गरल शशि सीकर-रविकर राग-विराग भरा प्याला ।
पीते हैं जो साधक उनका प्यारा है यह 'मतवाला' ।'

आपकी कविता का संगीत आपके मुख से सुनने पर पूरी तरह प्रकट होता है । स्वर साधकर गम्भीर कण्ठ से आप जब अपनी कविता सुनाते हैं, तो प्रकृति की अपेक्षा पुरुष का ही भान अधिक होता है ।

हिन्दी कविता में आपने नये मुक्तक छन्दों का प्रयोग किया और एक भग्न-से किन्तु आकर्षक संगीत की सृष्टि की। आपके काव्य में कुछ नई ही गति और प्रवाह है :

'नव-गति, नव-लय, ताल-छन्द नव,
नवल कण्ठ, नव जलद-मन्द्र रव,
नव नभ के नव विहग-वृन्द को
नव पर, नव स्वर दे !'

'निराला' हिन्दी के क्रान्तिकारी कलाकार हैं। आपने रूढ़िवाद को पग-पग पर कुचला है। आपका शब्द-विन्यास भी कुछ नया ही है :

'छंद की बाढ़, वृष्टि अनुराग,
भर गये रे भावों के झाग।
तान, सरिता वह स्रस्त अरोर,
बह रही ज्ञानोदधि की ओर.
कटी रूढ़ि के प्राण की डोर,
देखता हूँ अहरह मैं जाग।'

आपकी कविता में प्रकृति का और जीवन का सौंदर्य प्रतिबिम्बित है, किन्तु जीवन का कठोर सत्य अंकित करना भी आप नहीं भूलते :

'डूबा रवि अस्ताचल,
सन्ध्या के दृग छल-छल।'

वीणा-वादिनी से आपकी प्रार्थना है :

'जग को ज्योतिर्मय कर दो !
प्रिय कोमल-पद-गामिनि ! मन्द उतर
जीवन-मृत तरु-तृण-गुल्मों की पृथ्वी पर
हँस-हँस निज पथ आलोकित कर,
नूतन जीवन भर दो !'

पन्त की कविता का हिन्दी की युवा-मराडली पर भारी प्रभाव पड़ा। रूढ़ियों में फँसी हिन्दी कविता आपका अनुसरण कर नई दिशाओं की ओर बढ़ी और कविता के कंकाल में नवजीवन का संचार हुआ।

'वीणा', 'पल्लव', 'गुञ्जन', 'युगान्त', 'युग-वाणी' और 'ग्राम्या' आपकी यात्रा के पद-चिह्न हैं। हिन्दी कविता एक परिपाटी के दलदल में फँस चुकी थी। आपने मानो दिव्य नेत्रों से जगत् में एक अभिनव अनहोना सौंदर्य देखा और विस्मय-पुलक आपके कराट से गीत के रूप में उमड़ पड़ा। 'सरस्वती' में लगातार कई मास जो आपकी कविताएँ निकली थीं, उनमें विद्युत् का आकर्षण और शक्ति थी। 'साँकरी गली में माय काँकरी गड़तु हैं' सुन्दर चीज़ थी; किन्तु इसे हम कब तक दुहराते? 'सुन सखि, फिर वह मनमोहिनी माधव-मुरली बजती है' यह वस्तु भी सुन्दर थी। किन्तु हम जो दीर्घकाल से साहित्य-प्रेरणा से जी रहे थे, अब फिर जीवन की ओर मुड़े और हमने जीवन का सौंदर्य देखा :

'अरे, ये पल्लव बाल !
सजा सुमनों के सौरभ-हार
गूँथते वे उपहार ;
अभी तो हैं ये नवल-प्रवाल
नहीं छूटी तरु डाल;
विश्व पर विस्मित-चितवन डाल,
हिलाते अधर-प्रवाल !'

अथवा

'बाँसों का झुरमुट—
सन्ध्या का झुटपुट—
हैं चहक रही चिड़ियाँ
टी-वी-टी—टुट्-टुट्!'

'युग-वाणी' से पहले पन्त की काव्य-प्रेरणा में माधुरी थी। आपने

जीवन में सुख और दुःख का अतिरेक देखा था और जग का विधान आपको ग्राह्य न था, फिर भी वसन्त और उषा की श्री देखकर आप मन बहला लेते थे, और आपके शान्त मानस में कोई भूकम्प की लहरें न उठती थीं :

'मैं नहीं चाहता चिर सुख,
चाहता नहीं अविरत-दुख;
सुख-दुख की खेल मिचौनी
खोले जीवन अपना मुख।'

जीवन से आप विमुख हैं, यह कहना अनुचित होगा। 'परिवर्तन' और 'बापू के प्रति' कविताओं में इस देश और युग की वाणी मुखरित हो उठी है। 'परिवर्तन' देश का क्रन्दननाद है :

'रुधिर के हैं जगती के प्रात,
चितानल के ये सायङ्काल;
शून्य-निःश्वासों के आकाश,
आँसुओं के ये सिन्धु विशाल;
यहाँ सुख सरसों, शोक सुमेरु,
अरे, जग है जग का कङ्काल !!'

'रूपाभ' के जन्म-काल से आपकी कविता ने फिर रुख़ पलटा है। समाजवाद से प्रभावित होकर आपकी कविता में नया रूप-रंग आया है। यह कविता हमारे विवेक को जगाती है। 'मार्क्स से प्रति' आप कहते हैं :

'दन्तकथा, वीरों की गाथा, सत्य, नहीं इतिहास,
सम्राटों की विजय-लालसा, ललना-भ्रुकुटि-विलास;
दैव नियति का निर्भय क्रीड़ा-चक्र न वह उच्छृङ्खल,
धर्मान्धता, नीति, संस्कृति का ही केवल समरस्थल।
साक्षी है इतिहास,—किया तुमने निर्भय उद्घोषित
प्रकृति विजित कर मानव ने की विश्व-सभ्यता स्थापित।'

पन्तजी का एक सफल रूप हम प्रकृति के कवि और गीतकार में भी देखते हैं। वसन्त और वर्षा, उषा और सन्ध्या, धूप और छाया—आपके काव्य में अपूर्व माधुरी लेकर प्रकट हुए हैं। 'युग-वाणी' और 'ग्राम्या' में भी अनोखा रूप लेकर प्रकृति आई है :

सर् सर् मर् मर्
रेशम के-से स्वर भर,
घने नीम दल
लम्बे, पतले, चञ्चल
श्वसन स्पर्श से
रोम हर्ष से
हिल-हिल उठते प्रति पल !
वृक्ष शिखर से भू पर
शत-शत-मिश्रित ध्वनि कर
फूट पड़ा लो निर्झर—'

इस अभिनव रूप-जगत् के विश्वकर्मा के प्रति पाठक बड़ा कृतज्ञ है।

श्रीमती महादेवी वर्मा ने गीति-काव्य को अपनाया है। आपकी कविता में मिठास कूट-कूटकर भरी है। आज हिन्दी-कविता के क्षेत्र में अन्य कोई कवि ऐसा नहीं, जिसकी रचना में इतनी मधुरिमा भरी हो। आपके काव्य की शिल्प-कला से तुलना हो सकती है; अनन्य पच्चीकारी आपकी कृति में है। आपके अनेक शब्द-चित्र स्मरणीय हैं :

'शून्य नभ में तम का चुम्बन,
जला देता असंख्य उडुगन
बुझा क्यों उनको जाती मूक,
भोर ही उजियाले की फूँक ?'

अथवा

'मृगमरीचिका के चिर पग धर,
सुख आता प्यासों के पग धर—'

'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा', 'सान्ध्य-गीत' आपके काव्य प्रासाद के स्तंभ हैं। इस प्रासाद में प्रतीक्षा का दीप जला कर आपने अपना गीत उठाया है। इस गीत के स्वर निरन्तर अधिक सधे और मीठे होते जा रहे हैं :

'तंद्रिल निशीथ में ले आये
गायक तुम अपनी अमर बीन!
प्राणों में भरने स्वर नवीन!'

इस गीत की तान निरन्तर ही करुण और व्यथा-भरी है। कवयित्री चिरकाल से ही पीड़ा की ओर खिंची हैं। महादेवीजी ने स्वयं अपने दुःखवाद का कारण 'रश्मि' में समझने और समझाने का प्रयत्न किया है :

'दुख के पद छू बहते झर-झर
कण कण से आँसू के निर्झर,
हो उठता जीवन मृदु उर्वर—'

आपके दुःखवाद की चरम सीमा मोम की भाँति गल-गलकर प्रियतम का पथ आलोकित करने में होती है :

'मधुर मधुर मेरे दीपक जल!
युग युग प्रतिदिन प्रतिक्षण प्रतिपल
प्रियतम का पथ आलोकित कर!'

यह विचार अवश्य मन में आता है कि यह अतिशय मिठास और पीड़ा आधुनिक हिन्दी काव्य के प्रथम क्षय-चिह्न न हों। आप कहती हैं :

'जग करुण करुण, मैं मधुर मधुर!
दोनों मिल कर देते रजकण,
चिर करुणमधुर सुन्दर सुन्दर!

जग पतझर का नीरव रसाल,
पहने हिमजल की अश्रुमाल;
मैं पिक बन जाती डाल-डाल,
सुन फूट-फूट उठते पल-पल
सुख-दुख मञ्जरियों के अंकुर !'

हिन्दी काव्य में एक बहुत जाग्रत शक्ति श्री भगवतीचरण वर्मा रहे हैं। वर्षों पहले 'नूरजहाँ की क़ब्र पर' लिखी कविता से 'भैंसा-गाड़ी' तक आपने अनवरत काव्य-साधना की है। इसका प्रमाण आप के 'मधु-कण' और 'प्रेम-संगीत' हैं :

आपका व्यक्तित्व आपकी ही पंक्तियाँ उचित रूप से व्यक्त करती हैं।

'हम दीवानों की क्या हस्ती,
हम आज यहाँ कल वहाँ चले।
मस्ती का आलम साथ चला
हम धूल उड़ाते जहाँ चले—'

आपकी कविता का मुख्य नोट अतृप्त पिपासा और जीवन के प्रति घोर असन्तोष है। यह प्रतिध्वनि निरन्तर आपकी कविता से उठती है :

'अब अन्तर में आह्लाद नहीं, अब अन्तर में अवसाद नहीं,
अब अन्तर में उन्माद नहीं, मैं अन्तर को कर चुका नष्ट !'

आपके 'प्रेम-संगीत' में भी निराशा का ही प्राधान्य है :

'जीवन सरिता की लहर-लहर
मिटने को बनती यहाँ प्रिये।
संयोग क्षणिक !—फिर क्या जाने
हम कहाँ और तुम कहाँ प्रिये ?'

आपका यह असंतोष स्वाभाविक रूप से क्रान्तिकारी विचारधारा में परिणित हुआ। 'रूपाभ' में प्रकाशित 'भैंसागाड़ी' और 'कविजी' इसकी सूचना हैं :

'चरमर-चरमर चूँ-चरर-मरर
जा रही चली भैंसागाड़ी !'

बड़े दरिद्र ग्राम से यह 'भैंसागाड़ी' आ रही है :

'उस ओर क्षितिज के कुछ आगे,
कुछ पाँच कोस की दूरी पर,
भू की छाती पर फोड़ों-से
हैं उठे हुए कुछ कच्चे घर !
मैं कहता हूँ खँडहर उसको
पर वे कहते हैं उसे ग्राम—'

आगे नगर का वर्णन है :

'पीछे है पशुता का खँडहर,
दानवता का सामने नगर,
मानव का कृश कंकाल लिये
चरमर-चरमर-चूँ-चरर-मरर
जा रही चली भैंसा गाड़ी !'

हिन्दी कवियों में बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और 'एक भारतीय आत्मा' राजनीति में लीन रहे हैं। 'भारतीय आत्मा' ने इधर बहुत कम लिखा है। यह बात विचारणीय है कि इस राजनैतिक तल्लीनता से कवि की साहित्य-सेवा में बाधा पड़ी है, अथवा उसकी वाणी में कुछ नवीन ओज और शक्ति है। 'नवीन' के काव्य में सच्ची प्रेरणा रही है। स्वयं आपके मुख से 'पराजय-गान' जैसी कविता सुनकर रोमांच हो आता है।

'डुलमुल' से इस 'नवीन' संन्यासी का अलख गान कुछ दिनों के लिए प्रणय-संगीत में परिणित हुआ, किन्तु 'मानव', 'गुरुदेव गांधी' और 'झूठे पत्ते' के साथ फिर वह प्रलयकारी भैरवनाद बना है। आपकी भाषा संस्कृत, उर्दू मिश्रित कुछ ऊबड़-खाबड़-सी शक्ति और ओज-पूर्ण होती है।

'प्रताप' में प्रकाशित 'विजयादशमी' प्राचीन संस्कृति के प्रति सुन्दर और मधुर श्रद्धाञ्जलि थी।

'बच्चन' विकास के पथ पर तीव्रगामी कवि रहे हैं। लोकमत ने आपका नाम 'हालावाद' के साथ जोड़ रखा है, किन्तु आप 'हालावाद' को भी पीछे छोड़ चुके हैं। 'मधुशाला', 'मधुबाला', 'मधुकलश', 'निशा-निमंत्रण', 'एकान्त संगीत', 'सतरंगिनी' आदि आपके विकास के पग-चिह्न हैं। मधुशाला के अतिरिक्त आप 'पग-ध्वनि' आदि अनेक कविता लिख चुके हैं जो हिन्दी में प्रसिद्धि पा चुकी हैं। 'पग-ध्वनि' और 'निशा निमन्त्रण' के गीत 'बच्चन' बड़ी सुन्दरता से और मीठे स्वर से सुनाते हैं।

आपकी कविता में भी जीवन के प्रति घोर असंतोष और विद्रोह भाव है:

'मैं हृदय में अग्नि लेकर
एक युग से जल रहा हूँ—'

अथवा

'हो नियति इच्छा तुम्हारी
पूर्ण, मैं चलता चलूँगा,
पथ सभी मिल एक होंगे
तम-घिरे यम के नगर में !'

'निशा-निमन्त्रण' में आपकी कविता दुःख में अधिक गहरी रँग गई है और आपकी कला बहुत मँज गई है:

'संध्या सिंदूर लुटाती है।
रँगती स्वर्णिम रज से सुन्दर,
निज नीड़-अधीर खगों के पर,
तरुओं की डाली-डाली में कंचन के पात लगाती है।
करती सरिता का जल पीला
जो था पल भर पहले नीला,
नावों के पालों को सोने की चादर-सा चमकाती है।

परिधान, ऋतुओं का परिवर्त्तन, सागर-लहरी का मधुर संगीत और झंझा का ताण्डव नर्त्तन।

अधिकतर यह काव्य अन्तर्मुखी रहा है। कवि अपनी व्यक्तिगत आशा, अभिलाषा और निराशा में जगत् को रँगा पाता है। वाह्य जग केवल उसकी आत्मा की प्रतिध्वनि है। प्रकृति के उल्लास और पीड़ा में वह अपनी आत्म-कथा छिपी देखता है। गीति-काव्य अकसर अहंभाव से पूरित रहा है।

बड़ी हद तक देश और काल की परिस्थिति आधुनिक हिन्दी-काव्य के दुःखवाद का स्पष्टीकरण करती है। यद्यपि हमारी समाज-योजना आज दुःखप्रद और निराशाजनक दीखती है, किन्तु कुछ कवियों ने दूर क्षितिज पर नव प्रभात का अरुण आलोक भी देखा है और उनके गीत में नवीन उल्लास है :

'है आज गया कोई मेरे
तन में, प्राणों में यौवन भर।'

आधुनिक हिन्दी-कविता जीवन के साथ बँध रही है। देश और समाज में जो क्रान्ति हो रही है, उसकी स्पष्ट छाया हमारे काव्य पर पड़ रही है। इसके साक्षी पन्त, 'निराला', भगवतीचरण वर्मा, नरेन्द्र, 'दिनकर', 'सुमन', नागार्जुन, केदार आदि कवि हैं।

२

आज हिन्दी कविता दो धाराओं में बँट रही है; एक क्षीण, सूखती हुई; दूसरी बलवती, तीव्रगामी। पहली धारा के प्रतिनिधि कवि रामकुमार वर्मा आदि हैं; दूसरी के पन्त, 'निराला', नरेन्द्र, 'सुमन' आदि। हमारे समाज और साहित्य में भी यह श्रेणी-विभाजन स्पष्ट है; एक दल पुराने संस्कारों से बँधकर चलने के प्रयत्न में असमर्थ; दूसरा बन्धन तोड़कर एक नवीन संस्कृति की रचना में लीन है।

समाज में दीर्घकाल से श्रेणी-विभाजन चला आ रहा है और संस्कृति एक लम्बे अर्से से शासक-श्रेणी की सम्पत्ति रही है, किन्तु इतिहास के

आरम्भ में जब व्यक्तिगत पूँजी न थी, समाज में श्रेणियाँ भी न थीं। आज समाज का श्रेणी-संघर्ष भयानक रूप धारण कर रहा है, क्योंकि वर्ग-संस्कृति का अन्त समीप है। निकट भविष्य में ही समाज से वर्ग निकल जायँगे और एक नई संस्कृति की स्थापना होगी। संसार के एक छठे हिस्से में इस संस्कृति का निर्माण हो भी रहा है।

समाज की इन दो शक्तियों का संघर्ष साहित्य में भी स्पष्ट हो रहा है। एक दल पुराने मूल्यों को प्राणपण के साथ कलेजे से चिपकाये है; उसने ऊँची दीवारों से अपने को घेर रक्खा है। वह कला की दुहाई देता है और जीवन की उपेक्षा करता है। शाश्वत सत्य की मृगतृष्णा में वह भटक कर रह जाता है। किन्तु जिस समाज को वह शाश्वत समझता है, उसकी बुनियादें हिल चुकी हैं।

एक पल के लिए इन संस्कारी कवियों का दृष्टिकोण समझना चाहिए। वे कहते हैं कि कवि अपने स्वप्नों को मसिबद्ध करता है; उसे आज और कल से क्या मतलब ? उसकी रचना युग युग पर्यन्त पढ़ी जायगी। मकड़ी की तरह अपने ही अन्तर से वह सतत जाला बुनता रहता है; ईंट और गारे की उसे क्या आवश्यकता ?

किन्तु ठीक से सोचने पर हम देखेंगे कि कला का जीवन-संघर्ष से अटूट सम्बन्ध है और समाज के विकास अथवा ह्रास के साथ कला का भी उत्थान और पतन है। कला के पीछे जो भाव-चेतना होती है उसका आधार जीवन की शक्तियाँ हैं। कवि एक चेतना के संसार में अपने नेत्र खोलता है; उसके व्यक्तित्व का उस भौतिक संसार से संघर्ष होता है; उसे लिखने की प्रेरणा मिलती है।

आज क्यों हिन्दी के संस्कारी कवियों का भाव-स्रोत सूख रहा है और इनकी सूखती गीत-धारा में इतनी पीड़ा और कटुता है ? कल्पना के प्रासादों में कब तक रहकर उन्हें सान्त्वना मिल सकती थी ?

जीवन में उनकी सब अभिलाषाएँ कुचली जा चुकी हैं; केवल उनका मर्माहत अभिमान उनका साथी बचा है :

'क्षतशीश मगर नतशीश नहीं ।'

किन्तु खँडहरों का मोह उनके पैर बाँधे हुए है :

'अब खँडहर भी टूट रहा है,
गायन से गुञ्जित दीवारें।
दिखलाती हैं दीर्घ दरारें,
जिनसे करुण, कर्णकटु, कर्कश, भयकारी स्वर फूट रहा है ।'

बच्चन जिस गति और वेग से 'निशा-निमन्त्रण' और 'एकान्त संगीत' में बढ़े थे, उसमें शिथिलता आ चुकी है। एक हद तक ये कवि अपने में ही लीन हैं; बाहर के जग की प्रतिध्वनियाँ इनके कल्पना-भवन में दबी-दबी ही आती हैं, अतः उनके भाव-जगत् की तरलता सूख रही है। महादेवीजी ने अपने गीतों में नक्काशी हद दरजे तक पहुँचा दी, किन्तु बंगाल के अकाल ने आपकी प्रेरणा का द्वार फिर से खोला। बच्चन अन्दर ही अन्दर घुटकर विषपान कर रहे थे :

'विष का स्वाद बताना होगा !
ढाली थी मदिरा की प्याली,
चूमी थी अधरों की लाली,
कालकूट आनेवाला अब, देख नहीं घबराना होगा !'

अथवा—

'कोई विरला विष खाता है !'

इन कवियों को व्यक्तिगत जीवन की विषमताओं ने लिखने की प्रेरणा दी; उस पर जितना भव्य कला-भवन बन सकता था, वे बना चुके। उनके आगे बढ़ने का मार्ग बन्द था। उनके व्यक्तिगत जीवन में कोई नवीन परिस्थिति अथवा भौतिक बाह्य संसार से नवीन संपर्क ही अब उस रुँधे मार्ग को खोल सकते थे। बंगाल के अकाल के समान देश की

क्रान्तिकारी परिस्थिति या उनके विचारों में आमूल परिवर्तन कर रही हैं।

दूसरी धारा के प्रतिनिधि कवि बहुत तेज़ी से आगे बढ़ रहे हैं। पन्त की प्रेरणा विशेष सजग और तरल रही है। 'ग्राम्या' की कविताएँ दिसम्बर १९३९ से फरवरी १९४० तक केवल तीन महीनों में लिखी गई हैं। साथ ही कला के प्रति जो उदासीनता 'युगवाणी' की कुछ बौद्धिक रचनाओं में थी, वह 'ग्राम्या' में नहीं। 'ग्राम्या' की अनेक कविताएँ इस युग की प्रौढ़तम रचनाएँ हैं। इसी प्रकार भगवती बाबू, 'नवीन', 'दिनकर', नरेन्द्र, 'सुमन' आदि के काव्य में हम अदम्य वेग और शक्ति देखते हैं।

इसका कारण स्पष्ट है। हमारे समाज में जो शक्तियाँ प्रगतिशील हैं, उनके प्रतिनिधि यह कवि हैं। सांस्कृतिक संघर्ष में जो शक्तियाँ बल पकड़ रही हैं, उनकी रचना में ओज और बल होगा ही।

इन कवियों में एक टोली राष्ट्रीय विचारों को लेकर चली है, दूसरी समाजवाद को। आज भारत की समरभूमि में राष्ट्रीय और समाजवादी दोनों कवि ही प्रगतिशील हैं, किन्तु एक दिन राष्ट्रीय कवियों को भी निश्चय करना होगा कि वर्ग-संस्कृति की शृंखलाओं को वे तोड़ेंगे अथवा नहीं; उन्हें फासिज़्म और समाजवाद में अपना लक्ष्य तय करना होगा। बिना किसी फ़िलॉसफी के पथभ्रष्ट होने की सम्भावना रहेगी, जैसा हम जापानी कवि योन नागुची अथवा इटालियन कवि डैनन्जियो के बारे में देखते हैं। इसी प्रकार 'नवीन', 'कुंकुम' आदि की भूमिका में, 'दिनकर' प्रगतिशीलता पर अपने वक्तव्य में, और भगवती बाबू अपनी कविता '१९४०' में पथभ्रष्ट हो चुके हैं। उनकी भावनाएँ प्रगतिशील हैं, किन्तु उनके दिमाग़ अभी तक वर्ग-संस्कृति की शृंखलाओं से सर्वथा मुक्त नहीं हुए।

पन्तजी अपने ठोस अध्ययन के कारण हिंदी कवियों में सबसे सही वस्तु-विवेचन करते थे। 'युगवाणी' का रूखापन पीछे छोड़कर 'ग्राम्या' में आपकी भाषा में नई तरलता आई। 'ग्राम्या' में कवि ने नई आँखों से

भारतीय गाँव को देखा है। कवि ग्राम-युवती को लक्ष्य करके कहता है :

'उन्मद यौवन से उभर
घटा-सी नव असाढ़ की सुन्दर,
अति श्याम वरण,
श्लथ, मंद चरण,
इठलाती आती ग्राम-युवति
वह गजपति
सर्प डगर पर!'

किन्तु सामाजिक शोषण दो दिन में उसका रूप नष्ट कर देता है :

'रे दो दिन का
उसका यौवन!
सपना छिन का
रहता न स्मरण!
दुःखों से पिस,
दुर्दिन में घिस,
जर्जर हो जाता उसका तन!
ढह जाता असमय यौवन-धन!
बह जाता तट का तिनका
जो लहरों से हँस-खेला कुछ क्षण!'

इस असह्य जीवन से मुक्ति के द्वार खुल रहे हैं :

'जाति वर्ण की, श्रेणि वर्ग की
तोड़ भित्तियाँ दुर्धर
युग-युग के बंदीगृह से
मानवता निकली बाहर'

गाँव के अनुरूप ही कवि की भाषा ने आज बाना पहना है। पन्तजी की बदलती विकासवान प्रतिभा का यह एक इशारा है :

'उजरी उसके सिवा किसे कब
पास दुहाने आने देती
अह, आँखों में नाचा करती
उजड़ गई जो सुख की खेती !
बिना दवा-दर्पन के घरनी
स्वरग चली,—आँखें आतीं भर,
देख-रेख के बिना दुधमुँही
बिटिया दो दिन बाद गई मर !'

आगे,

'खैर, पैर की जूती, जोरू
न सही एक, दूसरी आती,
पर जवान लड़के की सुध कर
साँप लोटते, फटती छाती ।'

'ग्राम्या' की एक कविता 'ग्राम-देवता' विशेष महत्त्व रखती है । इस कविता में भारतीय संस्कृति का हमें सिंहावलोकन मिलता है, युग-युग की शोषण-पीड़ा और अब त्राण की आशा :

'राम राम'
हे ग्राम देव, लो हृदय थाम,
अब जन-स्वातन्त्र्य युद्ध की जग में धूमधाम ।
उद्यत जनगण युग क्रान्ति के लिए बाँध लाम,
तुम रूढ़ि-रीति की खा अफ़ीम लो चिर विराम !'

हिन्दी कविता के मंच पर एक और प्रभावशाली व्यक्तित्व है जिसके वर्णन बिना हिन्दी कविता पर कोई भी निबन्ध अपूर्ण रहेगा । वह व्यक्तित्व है, यथा नाम तथा गुण 'निराला' । पन्त के शब्दों में 'अनामिका' के कवि ने पर्वत-कारा तोड़कर कविता-धारा को मुक्त किया है, किन्तु साथ ही अपने व्यक्तिवाद के कारण 'निराला' सदा 'फ़्री लान्स' रहेंगे और

'निरालावाद' के अतिरिक्त और किसी 'वाद' की सार्थकता न मानेंगे। 'निराला' हिन्दी कविता में एक विप्लवकारिणी शक्ति रहे हैं; रूढ़िवाद के आप घोर शत्रु हैं। हिन्दी के इतिहास में आपका नाम आदर के साथ सदैव लिया जायगा।

इस प्रकार हिंदी कविता की शक्तियों का बँटवारा हम सहज ही समझ सकते हैं। संस्कृति में संघर्ष के चिह्न प्रकट होने लगे हैं। यद्यपि सतह पर अभी तक शान्ति है, तल में संघर्ष जारी है। इन्हीं शक्तियों के इर्द गिर्द हम आज हिन्दी के लेखकों को पायँगे।

उपन्यास

१

कहानी पूर्व के लिए बहुत पुरानी चीज़ है, किन्तु उपन्यास अपेक्षाकृत नया है। यह भी हम नहीं कह सकते कि हिंदी-उपन्यास का जन्म पश्चिम के सम्पर्क से हुआ। इस देश में 'बैताल पच्चीसी' और 'तोता-मैना' आदि लम्बे क़िस्से बहुत पहले से चले आ रहे हैं। पद्य में लम्बी कहानी की परम्परा चली आई है। हिंदी के पहले लोकप्रिय उपन्यास 'चन्द्रकान्ता' का जन्म फ़ारसी के प्रभाव से हुआ। इस ढंग के उपन्यासों की हिंदी में कुछ समय तक बाढ़-सी आई। हिंदी-उपन्यास के दूसरे युग में जासूसी उपन्यासों की भरमार रही। तीसरे युग में सामाजिक उपन्यास फले-फूले और हिंदी-साहित्य ने लम्बे-लम्बे डग भरे। हिंदी-उपन्यास के इस वर्तमान रूप पर अवश्य अंग्रेजी की गहरी छाप है।

तिलस्मी और जासूसी उपन्यास साहित्य की कोई निधि न हो सके। वे केवल समय काटने और मनोरंजन की सामग्री थे। जीवन से कोई उनका सम्पर्क न था। चरित्र-चित्रण उनमें बहुत स्थूल होता था। कथानक

का गुण उनमें अवश्य रहता था। जिस साहित्य की जड़ें पृथ्वी में नहीं, उसका जीवन भी क्षणभंगुर होता है।

हिन्दी में स्वर्गीय प्रेमचंद से पहले भी सामाजिक उपन्यास लिखे गये थे। पं० किशोरीलाल गोस्वामी ने दर्जनों उपन्यास लिखे होंगे। ये उपन्यास अपेक्षाकृत जीवन के अधिक निकट थे, किंतु चरित्र-चित्रण की इनमें जटिलता न थी। हिंदी उपन्यास के इस शैशव-काल में अन्य भाषाओं से अनुवाद भी खूब हुए। बङ्किम बाबू की 'देवी चौधरानी' अथवा श्री हरिनारायन आपटे की 'तालीकोटा की लड़ाई' खूब पढ़े गये। अंग्रेज़ी और फ्रेंच उपन्यासों के अनुवाद भी हुए।

'सेवा-सदन' का प्रकाशन हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक स्मरणीय घटना रहेगी। यह हिन्दी का प्रथम अमर उपन्यास था। 'सेवा-सदन' नगर-जीवन का विहंगम दृश्य है। अपनी युवावस्था में प्रेमचन्दजी ने बनारस की सड़कों की भी काफी धूल छानी होगी। 'सेवा-सदन' में मध्य-वर्ग के हिन्दू परिवार का भीषण चित्र है। यह उपन्यास उस काल का लिखा है जब स्वर्गीय प्रेमचन्द समाज के रोगों की दवा जगत् से दूर कोई एकाकी आश्रम समझते थे। 'सेवा-सदन' में मनुष्य-स्वभाव की अच्छी सूझ है। यह हिन्दी-उपन्यास में एकदम नई बात थी। कथानक का विकास पात्रों की आन्तरिक प्रेरणा से हुआ है, बाहर से नहीं। 'सेवा-सदन' विदेशी-साहित्य से चाहे प्रभावित हुआ हो, किन्तु इसके चित्र भारतीय चित्र हैं।

'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्दजी भारतीय गाँव की ओर मुड़े और राष्ट्रीय भावनाओं में भी रँग गये। अब हम उनको ग्राम-जगत् के कलाकार के रूप में ही अधिक पहचानते हैं। भारतीय किसान का जीवन उनकी कृति में मानो सहस्र जिह्वाओं से बोल उठा है। पुराने ज़मींदार घरानों के द्वेष, फूट, दिवालियापन का भी आपने अच्छा नक्शा खींचा। साथ ही इस दारुण व्यवस्था से मुक्ति पाने की दूर कुछ झिलमिल आशा देखी। इस

विचारधारा के अनुसार कोई उदार धनिक 'प्रेमाश्रम' बसाकर हमको जीवन की इस व्यथा से उबार लेगा।

'रंगभूमि' में प्रेमचन्द समस्त जीवन को अपना क्षेत्र मानकर उठे। संसार की 'रंगभूमि' का उन्होंने एक व्यापक विशाल चित्र खींचने का प्रयत्न किया। 'रंगभूमि' में कथानक की जटिलता पर प्रेमचन्द ने पूर्ण अधिकार दिखाया। कुछ अमर पात्रों की भी इस उपन्यास में सृष्टि हुई। सूरदास, विनय, सोफ़िया आदि। कहते हैं, सूरदास का मॉडल प्रेमचन्द को अपने ही गाँव से मिला था। 'रंगभूमि' की विशेषता चित्रपट की विशालता थी। इस उपन्यास में कलाकार ने भारतीय जीवन के प्रत्येक पहलू को छूने का प्रयत्न किया—ग्राम, नगर, समाज के विभिन्न वर्ग और श्रेणी, हिन्दू, ईसाई, मुसलमान आदि।

'कायाकल्प' में प्रेमचन्द की कला ने एक चिन्ताजनक रुख पलटा। इस उपन्यास में बहुत-सी बातें मनुष्य की सहज बुद्धि से परे थीं। हिन्दी के भाग्य से प्रेमचन्दजी इस दिशा में और आगे नहीं गये और पार्थिव जगत् की वास्तविकता की ओर फिर लौट आये।

इस बीच में 'प्रतिज्ञा', 'वरदान', 'निर्मला' आदि आपके उपन्यास निकलते रहे जिनसे किसी और कलाकार का नाम हो सकता था, किन्तु आपकी कला के ये मध्यवर्ती गिरि-शृंग हैं।

'ग़बन' के प्रकाशन से यह आशंका नष्ट हो गई कि प्रेमचन्द उपन्यासकार अपना उच्चतम कार्य कर चुके। 'ग़बन' ऊँची श्रेणी का उपन्यास था। इस बार फिर प्रेमचन्द ने हमें भारतीय नागरिक समाज का नग्न और बीभत्स चित्र दिखलाया। यह उपन्यास भारतीय जन-समाज को क्रान्ति की चुनौती है। 'सेवासदन' और 'ग़बन' में प्रेमचन्द ने यथार्थवादी चित्र खींचे हैं। इसी कोटि में हम 'कर्मभूमि' को भी रख सकते हैं।

'गोदान' लिखते समय प्रेमचन्द अपनी शक्तियों पर पूर्ण रूप से अधिकारी थे। 'गोदान' आपका सबसे शक्तिपूर्ण उपन्यास है। आपकी भाव

मँजकर काव्यपूर्ण हो गई है। आपकी टेकनीक प्रौढ़ है। ग्राम्य-जीवन के प्रति अपका आदर्शवाद भी कुछ ढल चुका है। होरी भारतीय किसान की शक्ति का प्रतिनिधि है। यही शक्ति भविष्य का अवलम्बन है, प्रेमशंकर की उदारता नहीं।

'गोदान' चिरकाल तक हिन्दी उपन्यास का जय-चिह्न रहेगा। कथा की धारा यहाँ अविरल बही है। अनेक पात्र जीवन की झाँकी देते हुए हमारे नेत्रों के सामने से गुज़र जाते हैं। इनको हम सदैव ही याद रक्खेंगे और जीवन को इनके माप-दंड से नापेंगे। भाषा में इस सन्ध्या-काल में कुछ अजब सुनहलानप आ गया है। हम सोचते हैं, यह जो जीवन-यात्रा का थका पंछी विश्राम की आशा से अपने नीड़ की ओर आ रहा था, उसके परों में अब भी शक्ति और वेग थे; अभी वह आकाश में ऊँची उड़ान लेने की क्षमता रखना था।

प्रेमचन्द में कथाकार के स्वाभाविक गुण थे। वे अच्छे कथानक जानने थे। जीवन के पात्रों को वे पहचानते थे। दिमाग़ की सब क्रिया जैसे किसी काँच के केस के नीचे वे देख रहे हों। आपके पात्र जीवन में हमारे दुःख सुख के साथी बन गये हैं। प्रेमचन्द के उपन्यासों के बाद हिन्दी-उपन्यास गर्वोन्नत अन्य भाषाओं की होड़ कर सकता है।

प्रेमचंद ने मानो उपन्यास का बाँध खोल दिया। अब हिंदी में निरंतर उपन्यास निकल रहे हैं, किंतु युवक कलाकारों में हमें ऐसा कोई नहीं दीख रहा, जो रीते आसन पर आपका स्थान ले।

'प्रसाद' जी ने अपने जीवन-काल में तीन उपन्यास लिखे: 'कंकाल' और 'तितली', 'इरावती' अपूर्ण है। इनका हिंदी-उपन्यास की गति विधि पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। 'कंकाल' की भाषा सुन्दर थी, किन्तु क्लिष्ट थी। साधारण पात्रों की बात चीत के लिए यह अनुपयुक्त थी। कथा-प्रवाह और पात्रों में भी कुछ प्रौढ़ कला न थी। 'तितली' का स्थान हिन्दी के उपन्यासों में ऊँचा होगा। इस कथा की भित्ति यथार्थ जीवन पर थी।

भारतीय समाज की वेदना और दुर्बलताएँ यहाँ सजीव रूप में मिलती हैं। 'तितली' का चरित्र-चित्रण भी उच्च-कोटि का था। प्रेमचन्द की कला का 'तितली' पर स्पष्ट प्रभाव था। 'इरावती' ऐतिहासिक उपन्यास है।

'तितली' पढ़कर बरबस ही यह विचार मन में उठता है कि यदि 'प्रसाद' कुछ दिन और जीवित रहते, तो उपन्यास को भी नाटक की भाँति समृद्ध कर जाते।

जैनेन्द्र हिन्दी के बढ़ते हुए कलाकारों में हैं। आप अनेक उपन्यास लिख चुके हैं। 'परख', 'सुनीता', 'त्याग-पत्र', 'कल्याणी' आदि।

'परख' ने पहले हिन्दी-संसार की दृष्टि आपकी ओर फेरी। इस उपन्यास के वेश-विन्यास में आकर्षक सादगी थी। इसकी नायिका 'कट्टो' का हिन्दी में नाम हो गया है, और भी चरित्र-चित्रण सुन्दर हुआ है। 'परख' में ध्यान आकर्षित करने का गुण था, चरित्र-चित्रण की सचाई, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, भाषा की सादगी।

'सुनीता' में ये मनोवैज्ञानिक गुत्थियाँ अधिक उलझ गईं, जिसके कारण 'सुनीता' और 'हरिप्रसन्न' दो पात्रों का चित्रण गूढ़ और रहस्यमय हो गया। हमारे मन में यह भावना होती है कि लेखक कुछ गहरी बात कहना चाहता है, किन्तु उसे कह नहीं पाया।

'त्याग-पत्र' में हिन्दू-समाज की अंतर्वेदना निहित है। जैनेन्द्रजी का सबसे अधिक शक्तिपूर्ण उपन्यास यही है। एक भारी कठिनता और अवसाद इस कथा में है—भारतीय नारी का विषम और दारुण जीवन जो पल-पल पर उसके अभिमान को कुचलना चाहता है। इस कथाभाग के पीछे जैसे युग-युग की पीड़ा घनीभूत है, किन्तु आँसुओं में बहकर नहीं निकल पाती। समाज के विचारालय में 'त्याग-पत्र' नारी का कठिन आरोप है।

'कल्याणी' में जैनेन्द्र ने भारतीय नारी का एक नया चित्र बनाया, किन्तु इस उपन्यास में आपकी भाव-धारा अस्पष्ट है।

जैनेन्द्र पिछले वर्षों में आध्यात्मिकता की ओर अधिक जा रहे थे। आशा है, कला का आँचल छोड़ आप केवल दार्शनिक ही न रह जायँगे। 'सुखदा' और 'विवर्त्त' लिखकर आप फिर एक बार अपने क्षेत्र को वापस लौटे हैं।

उच्च श्रेणी के अन्य कलाकार भी उपन्यास के क्षेत्र में हैं: श्री 'निराला', भगवतीचरण वर्मा और सियारामशरण गुप्त। इनकी ओर आलोचकों का ध्यान कुछ कम आकर्षित हुआ है, क्योंकि इनका कार्य उपन्यास के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं। 'निराला' जी अब तक 'अप्सरा', 'अल्का', 'निरुपमा', बिल्लेसुर बकरिहा', 'चोटी की पकड़' आदि उपन्यास लिख चुके हैं। 'चमेली', अप्रकाशित उपन्यास का एक परिच्छेद फरवरी के 'रूपाभ' में निकला था। आपके चरित्र जटिल होते हैं; आपकी भाषा में रस रहता है; आपके कथानक में काफ़ी आकर्षण रहता है। किन्तु आपके कथानक में घटना-बाहुल्य रहता है; और आपके चित्रों में कोई केन्द्रित व्यवस्था नहीं रहती। आपकी कथा डाँवाडोल लक्ष्यहीन-सी मानो भटकती है। 'चमेली' का एक परिच्छेद जीवन की उग्रतर आलोचना है। ग्राम्य-जगत् के इस चित्र में काफ़ी शक्ति है :

'उतरता बैशाख। खलिहान में गेहूँ, जौ, चना, सरसों, मटर और अरहर की रासें लगी हुई हैं। गाँव के लोग मड़नी कर रहे हैं। कोई-कोई किसान, चमार-चमारिन की मदद से, माड़ी हुई रास ओसा रहे हैं। धीमे-धीमे पछियाव चल रहा है। शाम पाँच का वक्त। सूरज इस दुनिया से मुँह फेरने को है....।'

'बिल्लेसुर बकरिहा' भी ग्राम-जीवन की कठोर आलोचना है।

'चोटी की पकड़' अतीत का एक चित्र है।

श्री० भगवतीचरण वर्मा का 'चित्रलेखा' शक्तिपूर्ण उपन्यास था। प्राचीन भारत के सामाजिक और आध्यात्मिक जीवन का वह सजीव चित्र था। इसमें कुछ बहुत ऊँचे उठे चरित्र थे। मनुष्य जीवन से विलग

हो मुक्ति नहीं पा सकता, यह इस कथा का इङ्गित है। अनातोले फ्रांस के 'थायस' (Thais) का भी यही कथाप्रवाह है, किन्तु 'चित्रलेखा' का वातावरण इतिहास और उपनिषदों से निर्मित एकदम भारतीय है।

'तीन वर्ष' में वर्माजी आधुनिक समाज की ओर झुके। 'तीन वर्ष' जीवन के कटु अनुभव पर निर्भर समाज की उग्र आलोचना है। 'तीन वर्ष' जीवन का एक छोटा-सा कटु टुकड़ा है। इसके पात्र जीवन की जूठन हैं : मद्यप, वेश्याएँ, वेश्यागामी। किन्तु इनमें शिक्षित समुदाय से अधिक सच्चरित्रता और उदारता है।

इसके बाद वर्माजी ने एक नया उपन्यास "टेढ़े-मेढ़े रास्ते" लिखा, जो जीवन का बृहत् विस्तृत चित्र है, किन्तु आपकी दृष्टि असंयत और पूर्व-ग्रहों से आक्रान्त है।

श्री सियारामशरण गुप्त में उपन्यासकार के स्वाभाविक गुण हैं। आपकी कथा में सच्ची भारतीयता है; आपके दृष्टिकोण में उदारता है। यदि वर्माजी मन उद्विग्न कर देते हैं, तो आप हमें शान्ति पहुँचाते हैं। आपकी कथा-शैली बहुत मँजी और प्रौढ़ है। आपकी उपमाएँ हमें विशेष सुंदर लगीं।

हिंदी में अनेक उपन्यासकारों का नाम हुआ है। श्रीचतुरसेन शास्त्री, श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी, श्री वृन्दावन लाल वर्मा, श्रीमती उषादेवी मित्रा, श्रीइलाचन्द्र जोशी, 'अज्ञेय', यशपाल और 'अश्क'। अन्य नवयुवक लेखक भी हिंदी-उपन्यास का भण्डार भर रहे हैं।

पश्चिम में उपन्यास-कला में बड़े-बड़े परिवर्त्तन हो रहे हैं, जिनका प्रभाव हिन्दी पर भी दृष्टिगोचर होता है। संतोष की बात यह है कि हिंदी-उपन्यास भारतीय-जीवन का ही प्रतिबिम्ब है। स्वर्गीय प्रेमचन्द ने ग्रामीणों और किसानों का जीवन अंकित किया था, उनके परवर्त्ती उपन्यास ने शिक्षित मध्य-वर्ग का गार्हस्थ्य जीवन अपनाया।

हाल में ही श्री 'अज्ञेय' ने 'शेखर' नाम का एक विस्तृत उपन्यास लिखा है। 'टेकनीक' के यहाँ कुछ नए प्रयोग हैं। 'शेखर' एक ही व्यक्ति

के जीवन का चित्र है। 'शेखर' के पहले भाग में कथा का प्रभाव बहुत धीमा है, किन्तु प्रत्येक अंग सुघड़ और शिल्पकला में ढला है। उपन्यास अन्तर्मुखी है। और इसकी गठन अंतर्जगत् के चित्रों की पंक्ति मात्र है।

यशपाल ने 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही' और 'दिव्या' में उत्तरोत्तर प्रौढ़ता दिखाई है। आपका जीवन-दर्शन, शिल्प और मानव स्वभाव की सूझ आपके विशेष गुण हैं।

हिंदी उपन्यास का इतिहास अभी अपेक्षाकृत नया है। किन्तु इस थोड़े समय में ही उसने बहुत उन्नति की है। इसका अधिकतर श्रेय केवल एक कलाकार को है। हमें हर्ष है कि उस कलाकार के निधन से हताश न होकर हिन्दी उपन्यास तीव्र गति से आगे बढ़ रहा है।

श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने सफल सामाजिक उपन्यास लिखे हैं। श्री राहुल और श्री वृन्दावनलाल वर्मा ने ऐतिहासिक उपन्यास की दिशा में अच्छा प्रयास किया है। मध्य युग के काल-खंड को इन कथाओं ने अपनाया है। ऐहितासिक उपन्यास में स्वर्गीय राखाल बाबू के 'करुणा' और 'शशांक' प्राचीन भारत के बड़े सुन्दर और सजीव चित्र हैं।

श्रीमती उषादेवी मित्रा के अनेक उपन्यास निकल चुके हैं। आपकी अलंकार-बोझिल भाषा के अतिरिक्त आपका विशेष गुण स्त्री-स्वभाव की सूझ है। आपने उच्च श्रेणी की पात्राओं का अपनी कथाओं में चित्रण किया है। इस गुण के कारण उपन्यास-क्षेत्र में आपका विशेष स्वागत होना चाहिए।

श्री इलाचंद्र जोशी मनोविश्लेषण से विशेष प्रभावित हुए हैं। आपके उपन्यासों में प्रमुख 'संन्यासी', 'पर्दे की रानी', और 'प्रेत और छाया' हैं। हाल में 'सुबह के भूले' आदि स्वस्थ सामाजिक उपन्यास जोशी जी ने लिखे हैं।

२

हिंदी उपन्यास अपने जीवन का एक सुदीर्घ काल पार कर इतिहास की सामग्री बन चुका है। आगे चलकर उसकी रूप-रेखा क्या होगी, यह

प्रश्न मन में उठता है। वर्तमान के बल पर ही हम भविष्य का चिन्तन कर सकते हैं।

आज हमें उपन्यास की भूमि में प्रेमचन्द की समता करनेवाला कोई उन्नत कलाकर नहीं दीख रहा। किन्तु प्रेमचन्द अपने युग में लगभग एकाकी थे और आज मानो बाँध तोड़कर उपन्यास की धारा बह रही है। कल के उपन्यासकारों में हम प्रेमचन्द, 'प्रसाद', 'सुदर्शन', कौशिक, 'निराला' आदि को गिन सकते हैं। आज की शक्तियाँ जो कल और भी प्रखर हो सकती हैं, कुछ तो प्रकाश में हैं: जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, इलाचन्द्र जोशी, 'अज्ञेय', यशपाल, 'अश्क'; जो भविष्य के गर्भ में छिपी हैं उनके बारे में क्या कहा जाय? इतना तो है ही कि उपन्यास लेखन संक्रामक रोग है। अनेक वाणी जो आज मौन हैं, कल मुखरित हो उठेंगी।

हिन्दी उपन्यास का इतिहास लगभग प्रेमचन्द की कला का इतिहास है। आधुनिक साहित्य के शैशव काल में अवतरित होकर प्रेमचन्द ने कल्पनातीत कारीगरी दिखाई। उनकी टेकनीक तो प्रौढ़ थी ही; पाश्चात्य साहित्य का और उपन्यास-कला का उन्होंने अच्छा अध्ययन और मनन किया था। सामाजिक शक्तियों के संघर्ष की भी उन्हें अद्भुत सूझ थी। उनके उपन्यास-संसार में भारत की वर्तमान अवस्था सजीव चित्र की भाँति हमारे सामने घूम जाती है। भारत की प्रकृति-भूमि: आम-महुए का साज; फाग और डफ; कोयल की कूक; ग्राम्य-श्री। समाज के सभी वर्ग: महाराजे, रईसज़ादे, ज़मींदार, बनिए, सूदखोर, सरकारी अहल्कार; कारिन्दे, छोटे अफ़सर; सबसे बढ़कर भारतीय किसान, 'होरी' शोषित, आहत, दयनीय। इस प्रकार सुगढ़ और प्राण-सम्पन्न एक विशाल दुनिया में हम जा पहुँचते हैं।

प्रेमचन्द की कला में हमें भारतीय जीवन की अनेक रूपता मिली। आज के कलाकार जीवन का एक सीमित भाग अपनाते हैं, जो उनका अपना संकुचित दायरा है। यही उनकी विजय है और पराभव भी।

आज हिन्दी उपन्यास की धारा अनेक शाखाओं में फूटकर बहुमुखी

हो रही है। जैनेन्द्र हिन्दू नारी के अनेक चित्र बना चुके हैं : कट्टो, सुनीता, मृणाल, कल्याणी, सुखदा। कुछ पुरुष भी हैं। किन्तु जकड़ी समाज के यह सभी कुण्ठित प्राणी एक असहाय-सा भाव मुख पर लेकर आते हैं, मानो किसी अज्ञात कारणवश उनकी गति अवरुद्ध है, और खुल नहीं पाती। सियारामशरणजी की कला घी के दिए की लौ के सदृश निर्मल है, और उनके कला-जग में आहत को शांति मिलती है। किन्तु जो क्षुब्ध सागर हमारे चतुर्दिक् लहरें मार रहा है, उसका इस कला से कुछ सम्बन्ध नहीं है। मरुभूमि में 'ओसिस' के समान सुखप्रद यह कल्पना मृगतृष्णा तो नहीं है? श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी टेकनीशियन हैं। वह जीवन का कोई टुकड़ा काटकर हमारे सामने रख लेते हैं, और कुशलतापूर्वक, कारीगरी से। श्रीमती मित्रा रोमैण्टिक हैं। जीवन आपके लिए एक आकर्षक मेला है, जिसका आप रसवन्ती भाषा में वर्णन करती हैं। 'अज्ञेय' अभी तक एकही व्यक्ति का चित्रण कर सके हैं।

इन कलाकारों से भविष्य क्या आशा रक्खे? जैनेन्द्र की कला का विकास हो रहा है। हिन्दू गृहस्थ के घर का परदा उठाकर आपने अन्दर झाँकने का साहस किया है और एक करुण, मर्म पर आघात करनेवाला दृश्य हमें दिखाया है। क्या जैनेन्द्रजी की कला का बाह्यरूप हल्का हो रहा है? आपकी कथा के पात्र उत्तरोत्तर कम हो रहे हैं, 'कल्याणी' में केवल एक ही पात्री है। दूसरी बात, जैनेन्द्रजी की विचार-परिधि फैलेगी या वे अपनी बात दुहराने लगेंगे? दूसरे शब्दों में क्या उपन्यास आपके लिए 'प्रश्नोत्तर' का व्याज रूप तो न हो जायगा? 'कल्याणी' में इसकी एक चिन्तनीय झलक है।

श्री भगवतीचरण वर्मा से हमें बहुत कुछ आशा है। आप हिन्दी में एक गतिशील शक्ति हैं, आपकी नवीन रचनाओं की प्रगति विकासमान है और आपके व्यक्तित्व में विप्लव-भावना के साथ-साथ ग्रहण करने की क्षमता भी है। वर्माजी अपने वर्ग के बाहर कुछ नहीं जानते, यह उनके

वर्ग का ही बन्धन है। यदि आप अपने पूर्वग्रह छोड़ सकते, तो आपका विकास अधिक स्वस्थ होता।

यशपाल हिन्दी के विकासोन्मुख कलाकारों में प्रमुख हैं। निस्सन्देह ही आपकी रचनाएँ हिन्दी उपन्यास का भविष्य बनाएँगी। यही हम जोशीजी के सम्बन्ध में भी कह सकते हैं।

कला के विकास में व्यक्ति-विशेष सहायक हो सकते हैं, किन्तु उनसे बढ़कर कला का स्वतन्त्र जीवन अपनी गति पर आबद्ध चला ही जाता है। हम देखते हैं कि कुछ कलाकारों ने हिन्दी उपन्यास को रूप दिया है; किन्तु उपन्यास की अपनी सजीवता ने भी उन्हें बनाया है। हम कह सकते हैं कि निकट भविष्य में हिन्दी में खूब उपन्यास लिखे जायँगे, उनकी रूप-रेखा जो भी कुछ हो।

कला का रूप समाज के अनुकूल परिवर्त्तनशील और वर्द्धमान है। कला समाज से अलग कोरी कल्पना के भवन में नहीं जी सकती। आज संसार में क्रांतिकारी परिवर्तन हो रहे हैं और भारतीय समाज में बेहद उथल-पुथल है। इस संकट-काल में संस्कृति का रूप भी अस्थिर और डावाँडोल होगा।

संकट-काल में कला के स्वरूप में भी उथल-पुथल ज़रूरी है। एक मार्ग है आदर्शवाद जो श्री सियारामशरण ने अपनाया है, अथवा 'रोमैण्टिसिज़्म' जो श्रीमती उषादेवी मित्रा की कला ने ग्रहण किया है। या तो कलाकार अतीत की ओर मुड़ जाता है, जहाँ उसके आहत अभिमान को 'मधु-मरहम' मिलता है, अथवा कल्पना के लोक में निकल भागता है जहाँ 'स्वर्ग-परियाँ' विहार करती हैं। ऐसी कला को हम गति-रुद्ध कहते हैं, क्योंकि जीवन की चुनौती से वह बचती है। संकट-काल में कला की बाह्य रूप-रेखा में अनेक अन्वेषण होते हैं। यूरोप में काव्य, संगीत, उपन्यास, चित्रकला, स्थापत्य सभी के अङ्ग बदल रहे हैं। 'अज्ञेय' टेकनीक के आविष्कारों में लिप्त हैं। 'विपथगा' में मानो 'कुछ भी नहीं' को वह नये-नये रूप में रखकर देख

रहे हैं। 'विपथगा' की अनेक कहानियाँ सुगढ़ कला का प्रमाण हैं, किन्तु कुछ विदेशी जीवन को स्पर्श करती हैं, कुछ 'कड़ियों' की भाँति टेकनीक के अनुसन्धान में मग्न हैं, और मर्म को नहीं छू पातीं। इस प्रकार बन्दी कलाकार का जीवन कुण्ठित रह जाता है, और कुछ कहकर वह अपनी आत्मा का बोझ हल्का नहीं कर पाता। 'शेखर' में भी हम देखते हैं कि मन के भारी बोझ के कारण कथा की गति अवरुद्ध है। 'अज्ञेय' की कला इस बात का प्रमाण है कि प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार संकट-काल में अधिक नहीं खुल पाता।

समाज और साहित्य के इस अन्तरङ्ग सम्बन्ध को समझ हम उपन्यास की प्रगति भी समझ सकते हैं। जो कलाकार समाज की बेड़ियाँ तोड़ने को अधीर हैं, वे आज भी प्रतिभाशाली साहित्य की रचना कर सकते हैं। उनके प्राण जितने मुक्त होंगे, उनकी रचना में उतनी ही गति होगी। समाज का बन्धन टूटने पर कला का विकास कल्पनातीत होगा। उन्नत समाज की संस्कृति में अनन्य गति भर जाती है, इसका साक्षी इतिहास है। जो हमारे 'मिल्टन' आज मूक हैं, उनकी वाणी भविष्य में मुखरित हो उठेगी। व्यक्ति-विवेचन छोड़ हम कह सकते हैं कि हिन्दी की उपन्यास-कला में निकट भविष्य में ही नये जीवन की उमंग भर जायगी और पिंजर-मुक्त पक्षी के समान पंख खोलकर वह उड़ सकेगी। अभी तो 'पिंजरे की उड़ान' है।

कहानी

प्रेमचन्द, कौशिक और सुदर्शन की कला में जिस गम्भीर और गहरी धारा में हिन्दी-कहानी बही थी, उसे छोड़ अब वह नई-नई शाखाओं में फूटकर 'विपथगा'-सी हो रही है। आधुनिक हिन्दी कहानी में प्रेमचन्द ने

प्राण फूँके, 'प्रसाद', कौशिक और सुदर्शन ने उसे विकसित किया; अब वह अपने विकास के नये पथ खोज रही है।

हमारे नये गल्पकारों में जैनेन्द्रजी का नाम अग्रगण्य है। आप अनेक सुन्दर कहानी लिख चुके हैं। आपके कई संग्रह भी निकल चुके हैं। आपकी 'खेल' नामक कहानी से प्रसन्न होकर कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने कहा था कि 'हिन्दी में हमको रवि बाबू और शरत् बाबू अब मिले और एक साथ मिले !'

जीवन के बहुत उलझे हुए तानों-बानों से जैनेन्द्रजी बचते हैं। आपके उपन्यासों में भी थोड़े-से ही पात्र होते हैं। जीवन की झाँकी मात्र आपको रुचिकर है। उसी झाँकी द्वारा आप अपने गहनतम भावों को प्रकट कर देते हैं। गल्पकार का यही गुण होना चाहिए।

जैनेन्द्रजी ने अनेक ढंग की कहानियाँ लिखी हैं। 'मास्टर साहब' कुछ बंगाली वातावरण की; 'एक रात' कुछ रूसी पुट लिये; प्राचीन राजकुमार और शिल्पकारों की जीवन-गुत्थियाँ; रेल-यात्रा की रोचक घटनाएँ। आप जीवन के सभी क्षेत्र अपनाते हैं। टेकनीक आपकी नवीन है, किन्तु आपकी कला की आत्मा भारतीय है। उन्नीसवीं शताब्दी में विदेशी कलाकारों का ऐसा नियम था कि पेंसिल और नोटबुक लेकर वे घर से बाहर निकल पड़ते थे। जैनेन्द्रजी भी अपनी पेंसिल और नोट-बुक घर पर कभी नहीं भूलते।

जैनेन्द्रजी का कथानक सीधा और सुलझा हुआ होता है। मनोवैज्ञानिक गुत्थियों में ही कभी-कभी आप उलझ जाते हैं। जीवन का कोई एक अंग वह अपनाते हैं। जन्म-मरण की यहाँ समस्या नहीं। चरित्र-चित्रण ही लेखक का ध्येय है। इन कहानियों का आदि अन्त कुछ नहीं। 'फोटोग्राफी' और 'खेल' इसी शैली की कहानी हैं। पश्चिम में वह शैली 'चेकॉफ़' के साथ लोकप्रिय हुई थी।

इधर दो-एक वर्ष से जैनेन्द्रजी की कला ने जो रूप लिया है, उससे चिन्ता होती है। अधिकाधिक आप जीवन की वास्तविकता और कटुता से

बचकर चल रहे हैं। आपकी लम्बी कहानी 'त्याग-पत्र' पढ़कर हमको भारी सन्तोष हुआ। ऐसी व्यथा, कठिनता और स्वाभाविकता उच्च-कोटि के साहित्य में ही मिल सकती है।

श्रीचन्द्रगुप्त विद्यालंकार उच्च-श्रेणी के आलोचक हैं। हिन्दी कहानी-साहित्य पर आपका निबन्ध अभूतपूर्व रूप से निर्भीक और गम्भीर था। आपने अनेक रोचक कहानी लिखी हैं। 'ताँगेवाला' नाम की कहानी हमको विशेष अच्छी लगी; आपने गल्प-कला के सम्बन्ध में शायद बहुत कुछ सोचा है। आपकी 'क ख ग', 'एक सप्ताह', 'चौबीस घण्टे' आदि कहानियों से यह स्पष्ट है। 'क ख ग' जीवन के तीन विभिन्न चित्र हैं। तीनों में रक्तपात और मृत्यु है। रेल, स्टेशनों और ग्राम्यजीवन का स्वाभाविक वातावरण है। टेकनीक उत्कृष्ट है। 'क ख ग' यह तीनों चित्र मिलकर जीवन का व्यापक चित्र बन जाते हैं।

'एक सप्ताह' पत्रों द्वारा वर्णित कहानी है। पहाड़ के ग्रीष्म जीवन का यहाँ रोचक परिचय मिलता है। कथानक नहीं के बराबर है। सप्ताह भर में एक युवक प्रेम, निराशा सभी कुछ अनुभव कर वास लौट आता है।

'चौबीस घण्टे' में भूकम्प द्वारा एक दिन में घटित परिवर्त्तन का हाल है।

समय और काल का कहानी में मूल्य कम होता जा रहा है। जन्म-मरण पर्यन्त मनुष्य-जीवन रोचक नहीं होता। जीवन के कुछ मूल्यवान-क्षण लेकर ही आधुनिक कलाकार उन पर तीव्रतम प्रकाश डालता है।

चन्द्रगुप्तजी कहानी के बाह्य रूप में अधिक लीन रहे हैं। टेकनीक में किये आपके अन्वेषण और अनुसंधान हिन्दी-कहानी की उन्नति में विशेष सहायक होंगे।

'अज्ञेय' जी ने नवीन पाश्चात्य कथा-शैली को अपनाया है। उसकी स्पष्ट छाया 'प्रतिध्वनियाँ' और 'कड़ियाँ' शीर्षक कहानियों में हैं। मनुष्य के मन में अनेक-असम्बद्ध भाव उठते रहते हैं—अनेक चित्र एक साथ बनते,

बिगड़ते हैं। उन्हीं का चित्रण इन कहानियों में हुआ है। 'कड़ियाँ' हिन्दी-साहित्य की निधि होगी। मनुष्य-मात्र की बिखरी भावनाओं को—उसकी आशा, निराशा, हर्ष, उन्माद को—कलाकार ने यहाँ बटोरकर रखा है। बार-बार उसके खींचे शब्द-चित्र हमारे मन में घूम जाते हैं।

'अज्ञेय' जी में काव्य का अंश भी यथेष्ट मात्रा में है। वह आपकी 'अमर-वल्लरी' नाम की कहानी में प्रकट हुआ है। पीपल के पेड़ ने जीवन के अनेक दृश्य देखे हैं। शताब्दियों से वह प्रहरी की भाँति सिर उठाये यहाँ खड़ा है। अमर-वल्लरी उसके कण्ठ की माला बनी हुई है। किन्तु पीपल अब वृद्ध हुआ। उसकी धमनियों में रक्त-संचार धीमा पड़ गया है। जीवन के अनेक दृश्य उसने देखे हैं। नित्य प्रभात और सन्ध्या की मधु-वेला में स्त्री-पुरुष आकर उसके ऊपर पत्र-पुष्प चढ़ा जाते हैं। वरदान की इच्छुक ललनाएँ उसका आलिङ्गन करती हैं, किन्तु वह अशोक की भाँति फूलकर उन्हें उऋण नहीं कर सकता। जीवन के कितने रहस्य उसके हृदय में छिपे पड़े हैं?

यशपाल के कई कहानी-संग्रह अब तक निकल चुके हैं, 'पिंजरे की उड़ान', 'ज्ञानदान', 'अभिशप्त', इन कहानियों में यशपाल उच्च कोटि के शिल्पकार के रूप में प्रकट हुए हैं। 'अभिशप्त' में आपने सामाजिक व्यथा के अनेक मार्मिक चित्र खींचे हैं।

श्रीयुत भगवतीचरण वर्मा की कहानियों में विद्रोह-भावना और सामाजिक असन्तोष है। नवीन शिक्षा और अविष्कारों के साथ जो युग भारत में आया है, उसके आप प्रतिनिधि हैं। इस नवयुग की हलचल, अशान्ति और उतावलापन आपकी रचनाओं में प्रतिबिम्बित है। आपके कहानी-संग्रह 'इन्सटॉलमेन्ट' का शीर्षक ही इसका द्योतक है। चाय की प्याली के साथ आपकी प्रत्येक कहानी का आरम्भ होता है। 'कार', सुरापान, अनि-यन्त्रित प्रेम, 'इन्सटॉलमेन्ट' द्वारा ऋणपरिशोध—यह इस युग की साधारण

बातें हैं। स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध की मीमांसा में आप विशेष व्यस्त रहते हैं।

आज हिन्दी-कहानी की प्रगति उमड़ी हुई वर्षा-नदी के समान है। अनेक सुप्रसिद्ध कहानीकारों के नाम मन में उठते हैं। कई वर्षों से श्री कृष्णानन्द गुप्त सुन्दर कहानी लिखते आ रहे हैं। आपकी कहानियाँ सदैव रोचक होती हैं। आपका कथानक स्वाभाविक और चरित्र-चित्रण कुशल होता है। श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख़्शी ने अच्छी कहानी लिखी हैं। 'उग्र' ने कुछ वर्षों का मौन तोड़कर फिर लेखनी सँभाली है। पं० विनोद-शंकर व्यास ने भावुकता और श्रीयुत इलाचन्द्रजोशी में कला के प्रति विशेष आकर्षण है।

जो और किसी युग में कहानी नहीं लिखते, वे भी आज कहानी लिख रहे हैं। 'पन्त' अथवा 'निराला' सर्वप्रथम तो कवि हैं। पन्तजी की 'पाँच कहानियाँ' सुन्दर रेखा-चित्र हैं। भाषा प्रांजल और प्रवाहमयी है। इन कहानियों को पढ़ने में गद्य-काव्य का आनन्द आता है। शिक्षित समुदाय के विचार-व्यवहार की पन्तजी को सहज सूझ है। आपकी कला में तितली के पंखों-सी चमक है। हमें दुःख है कि इन कहानियों में भारतीय जीवन की निराशा के अन्तरतम तक पन्तजी नहीं पहुँचे।

इस जाग्रति-काल में अनेक स्त्री कहानीकार हुई हैं। शिवरानी देवी, कमला चौधरी, उषादेवी मित्रा, चन्द्रकिरण सौनरेक्सा आदि। शिवरानी देवी प्रेमचन्द के पथ पर चल रही हैं—जो स्वाभाविक है। श्रीमती कमला चौधरी की कहानियों में काव्य-प्रेरणा, सरलता और उल्लास है। गृह-जीवन आपका विशेष क्षेत्र है। स्त्रियों के दुःख आप सहज ही और मार्मिक भाषा में व्यक्त करती हैं। 'साधना का उन्माद' और 'मधुरिमा' में जो स्त्री-हृदय की सूझ है, वह पुरुष लेखकों की परिधि से सर्वथा बाहर है। उषादेवी मित्रा की भाषा में काव्य और लालित्य रहता है। आपकी 'जीवन-सन्ध्या' शीर्षक कहानी हमको अच्छी लगी। श्रीमती होमवती देवी ने 'विशाल

भारत' में कुछ सुन्दर कहानी लिखी हैं। आपकी रचनाओं में 'नारीत्व' सुलभ सुकुमारता और कोमलता रहती है।

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा का कहानी-संग्रह 'आदमख़ोर' आपको हिन्दी के उन्नत कलाकारों की पंक्ति में अनायास ही पहुँचाता है। आपकी कहानियों में भारतीय नारी के जीवन की व्यथा कूट-कूटकर भरी है।

अनेक उर्दू लेखकों ने भी हिन्दी में लिखने का प्रयत्न किया है। इनमें अहमद अली और सज्जाद ज़हीर के नाम उल्लेखनीय हैं। अहमद अली की कहानी 'हमारी गली' हिन्दी के लिए एक नयी चीज़ थी। गली की दुकानों के, दुकानदारों के, राहगीरों के इसमें सूक्ष्म चित्र हैं। यथार्थवाद का और युरोपीय कहानी की नवीनतम टेकनीक का यह उत्कृष्ट नमूना है। इसकी भाषा भी कहीं-कहीं खूब ऊँची उठी है—विशेषकर अज़ाँ की प्रतिध्वनि के वर्णन में।

प्रेमचन्दजी ने हमारे ग्राम्य और गार्हस्थ्य जीवन पर ज्योति की वर्षा की थी। आपकी अधिकतर कहानियाँ घटना-प्रधान थीं। मनुष्य के हृदय की यहाँ सच्ची और अच्छी परख थी। हिन्दी कहानी कई वर्ष तक आपके दिखाये पथ पर चली। जीवन-प्रेरणा और विकास के नियमों से उत्सुक अब वह नई दिशाओं की ओर उन्मुख हो रही है।

हिन्दू परिवार में और सामाजिक जीवन में जो परिवर्तन हो रहे हैं, उनका प्रतिबिम्ब हमको इन नये कहानीकारों की रचनाओं में मिलता है। हमारे जीवन पथ में जो नवीन विचारधाराएँ प्रकट हुई हैं, विप्लव और विद्रोह की जो प्रबल भावनाएँ जाग्रत हुई हैं—उनका यहाँ भविष्य के लिए इतिहास लिखा मिलेगा।

कला की दृष्टि से हिन्दी-कहानी ने अनेक अनुसन्धान किये हैं। मनोविज्ञान और यथार्थवाद की ओर हमारा ध्यान अधिक खिंचा है। कथा-शैली में अनेक परिवर्तन हुए हैं। बहुत-कुछ हमने खो दिया है, किन्तु बहुत-कुछ पाया भी है।

आलोचना

१

साहित्य के शैशव में आलोचना का कोई स्थान नहीं होता। जब साहित्य प्रौढ़ हो जाता है, तभी आलोचना का विकास होता है। पहले काव्य-सृष्टि होती है, फिर काव्यालोचन। कहते हैं, पहले मनुष्य के मुख से कविता निकली थी, फिर गद्य।

हिंदी का साहित्य बहुत पुराना है। किसी न किसी रूप में आलोचना भी हिन्दी साहित्य में रही है। आधुनिक हिन्दी साहित्य प्रसव-काल की पीड़ा भूल एक नये जग को नेत्र खोलकर देख रहा है। आलोचना का क्षेत्र भी अब विस्तृत हो रहा है। सत्साहित्य के लिए अच्छे साहित्य-आदर्श ज़रूरी हैं। उन्हीं के निर्माण से आलोचक अपने साहित्य की भारी सहायता कर सकता है।

आलोचक का कार्य बड़े महत्त्व का है। ऊँचे आसन पर बैठकर दंड और इनाम देनेवाला पदाधीश वह नहीं है। सत्य की खोज में वह अनवरत लीन तपस्वी है। ऑस्कर वाइल्ड ने आलोचक को कलाकार कहा है। अपनी अनुभूति और कल्पना के सहारे वह साहित्य की आत्मा तक पहुँचने का प्रयत्न करता है।

हिंदी आलोचना के तीन स्पष्ट क्रम-विभाग हैं। पहले काल में पुराने आचार्यों के रस और अलंकार संबन्धी नियम मानकर हम चले। दूसरे काल में नई कसौटियों की ओर भी हमारी दृष्टि गई। अब हम नये साहित्य को नये ही माप और बाटों से तोल रहे हैं।

रीतिकाल के काव्य में आलोचना का काफ़ी मिश्रण था। अधिकतर कवि नायक नायिका-भेद अथवा अलंकार और पिंगल समझाने के लिए कविता लिखते थे। इन ग्रन्थों से अलंकार आदि समझना तो कठिन है, किंतु कविता कभी-कभी काफ़ी मीठी हुई है। मालोपमा का कितना अच्छा उदाहरण यह दोहा है :

'घन से, तम से, तार से, अंजन की अनुहार।
अलि से, पावस रैन से, बाला तेरे बार।'

मतिराम का 'ललित ललाम', राजा यशवंतसिंह का 'भाषा-भूषण', पद्माकर का 'पद्माभरण', दास का 'छंदार्णव पिंगल' अथवा 'काव्य-निर्णय' इसी ढंग के काव्य-ग्रन्थ हैं।

हिंदी गद्य के विकास के साथ ही आलोचना भी आगे बढ़ी और काव्य के गुण-दोष-विवेचन का सूत्रपात हुआ। एक बार भद्दे, पीले कागज़ पर मोटे, सटे अक्षरों में छपी ग्वाल कवि की भूमिका हमने पढ़ी थी; व्रजभाषा गद्य का वह आकर्षक नमूना थी। भारतेन्दु ने 'कवि वचन सुधा' और अन्य पत्रों में हिन्दी आलोचना को दृढ़ नींव पर रक्खा। भारतेन्दु रसिक और काव्य-प्रेमी व्यक्ति थे। व्रजभाषा की फुटकर कविताओं का आपने एक बड़ा संग्रह किया, जो पालग्रेव की ट्रैज़री की तरह पुराने हिन्दी काव्य का अखंड कोष है।

पुरानी परिपाटी के आलोचकों में अग्रगण्य पं० पद्मसिंह शर्मा, ला० भगवानदीन 'दीन', 'रत्नाकर' और पं० कृष्णविहारी मिश्र हैं। बिहारी पर पं० पद्मसिंह शर्मा का 'संजीवन भाष्य' अनमोल वस्तु है। 'यह खाँड की रोटी जिधर से तोड़ो उधर से ही मीठी है।' आपके गद्य में उर्दू और फ़ारसी की छींटें स्थान-स्थान पर स्वाति-वर्षा-सी करती हैं। हमें खेद है कि 'भाष्य' अधूरा ही रह गया।

बिहारी और केशव के पाठ सुलझाने में लाला भगवानदीन ने भगीरथ प्रयत्न किया। आप बिहारी के विचित्र अर्थ भी निकालते थे। वाद-विवाद में पड़कर आप कड़वी और चुभनेवाली बात भी कह डालते थे।

बिहारी का पाठ सुधारने में 'रत्नाकर' का काम अंग्रेजी आलोचकों की जोड़ का था। 'बिहारी रत्नाकर' के ढंग के शेक्सपियर आदि कवियों पर अंग्रेजी में अनेक ग्रन्थ हैं।

पुरानी कसौटियों पर जिस संयत और सुन्दर ढंग से पं० कृष्णविहारी

मिश्र ने काव्य-परीक्षा की, उसका हिन्दी में दूसरा उदाहरण नहीं। 'देव और विहारी' तुलनात्मक आलोचना का हिन्दी में अब भी सबसे अच्छा ग्रन्थ है। मतिराम से मिश्रजी को विशेष स्नेह है। आपके पाण्डित्य की मिश्री में कोई बाँस की फाँस नहीं।

इस प्राचीन परिपाटी के विरुद्ध हमारे कई आरोप हैं। अलंकार गिन-कर काव्य की श्रेष्ठता निर्धारित नहीं की जा सकती। कभी-कभी तो अलं-कार की अधिकता खटकती है। पद्माकर विशेष अपराधी हैं। विहारी ने कहा ही है :

'भूषण भार सँभारिहैं, क्यों यह तन सुकुमार ?
सीधे पाँव न धर परत, सोभा ही के भार ?'

बिना व्यक्तिगत आक्षेपों के यह पण्डितगण कम बात कर सकते थे, जैसे 'मिश्रजी भंग की तरंग में रह गये' इत्यादि। किसने किससे भाव चुरा लिये, इस विषय से भी यह बड़े परेशान रहे। शेक्सपियर तो अपने नाटकों के सभी प्लॉटों के लिए दूसरों के ऋणी थे।

एक नई संस्कृति के संपर्क से हमारे देश के जीवन में नये प्राण आ गये। गहरी निद्रा से जागकर हमारे साहित्य ने आँखें खोलीं और एक नये ही जग में अपने को पाया। इस काल के आलोचक अतीत के गृह-द्वार पर खड़े भविष्य का अरुणोदय देख रहे हैं। प्राचीन साहित्य का पूरा ज्ञान इन साहित्यकारों को है, किंतु उनके पाण्डित्य में एक नवीन सजीवता और आकर्षण है।

हिंदी नव-साहित्य के इस उपःकाल में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी एक भारी शक्ति थे। कुछ इसी प्रकार का प्रभाव डा० जॉनसन ने अपने सम-कालीन साहित्य पर डाला था। 'सरस्वती' के संपादक की हैसियत से द्विवेदीजी ने दृढ़ हाथों से हिन्दी साहित्य का संचालन किया। सदा ही द्विवेदीजी के निर्णय ठीक रहे, यह तो नहीं कहा जा सकता; किंतु आपकी संरक्षकता में हिंदी खूब फली-फूली।

मिश्रबंधु, बा० श्यामसुन्दरदास और पं० रामचन्द्र शुक्ल इसी श्रेणी में हैं। मिश्र-बंधुओं ने हिंदी-साहित्य का इतिहास खोज और परिश्रम से लिखा, जिसने 'शिवसिंह सरोज' का स्थान लिया, हिन्दी कवियों का श्रेणी-विभाग किया और 'नवरत्न' लिखकर प्राचीन कविता को फिर से लोकप्रिय बनाया। मिश्र-बंधुओं में साहस और स्वतन्त्रता प्रचुर मात्रा में थे, यद्यपि अधिक गहराई तक वे न पहुँच पाये।

बा० श्यामसुन्दरदास ने हिन्दी साहित्य में बड़ी खोज की, और झगड़ों से बचकर वे चले। देव और बिहारी के झगड़े में हिन्दी के अनेक साहित्यिक खिंच आये और आपस में काफ़ी गाली-गलौज भी हुआ। फिर वर्षों बाद मौन तोड़कर बाबूजी ने देव की सराहना की। आपके जीवन के दो काम बहुत महत्त्व के हैं : नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना और शब्द-सागर। नागरी प्रचारिणी की तुलना रॉयल सोसाइटी से और शब्द-सागर की न्यू इँगलिश डिक्शनरी से हो सकती है। बा० श्यामसुन्दरदास ने अनेक ग्रन्थों की खोज और सम्पादन में सभा का हाथ बँटाया। नाट्य-शास्त्र से आपको विशेष दिलचस्पी थी। 'साहित्यालोचन' में आपने आलोचना-शास्त्र का नवीन पद्धति पर निरूपण किया।

पं० रामचन्द्र शुक्ल का हिन्दी आलोचना में विशेष स्थान है। आपके व्यक्तित्व की गम्भीरता से हृदय में सहज ही श्रद्धा हो आती है। इतनी गम्भीरता और गहराई तक हिन्दी का और कोई आलोचक नहीं पहुँचा। आपने हिन्दी साहित्य का काल-विभाग किया। तुलसी, जायसी और सूर की पाण्डित्यपूर्ण और अभूतपूर्व आलोचना की और काव्य के अन्तरतम तक पैठने का निरन्तर प्रयत्न किया। हिन्दी के नये कवि और लेखकों से आपको सहानुभूति कम थी, और कहीं-कहीं तो आपकी लेखनी में आवश्यकता से अधिक कड़वाहट आ जाती थी।

नवयुग और नए साहित्य के साथ-साथ नये पारखी भी पैदा हो रहे हैं। पुरानी काव्य-कसौटियों से नये साहित्य की ठीक परख नहीं हो सकती।

कहते हैं कि पुरानी शराब नई बोतलों में न भरनी चाहिए; बोतल टूट जाती है।

इस बार भी नेतृत्व 'सरस्वती' सम्पादक के हाथ रहा। पं० पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की आँख 'विश्व साहित्य' की ओर लगी थी। आपका दृष्टिकोण व्यापक था और नये आलोचना-आदर्श आपके सामने थे। कहते हैं कि 'निराला' जी की कविताओं से बख्शीजी बड़े चकित हुए थे; किन्तु पन्त की कविताएँ भी तो धारावाहिक रूप से 'सरस्वती' के पहले पृष्ठ पर निकलती थीं। 'हिन्दी साहित्य-विमर्श' में बख्शीजी ने एक नये दृष्टिकोण से हिन्दी साहित्य का सिंहावलोकन किया और विश्व-साहित्य की तुला में हिन्दी को तोला।

हिन्दी के नये काव्य की अनुभूतिपूर्ण सूझ पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी की है। प्रति वर्ष जो आप 'विशाल भारत' में नये काव्य-ग्रन्थों की आलोचना करते थे, उसमें आपके ही बताये तीन गुण—"कल्पना, चिन्तन, अनुभूति"—समान मात्रा में बराबर मिलते थे।

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी गम्भीर अध्ययन, मनन और भावुकता से नये और पुराने साहित्य की आलोचना करते हैं। आपकी इस साधना का फल हिन्दी को आगे चलकर अवश्य मिलेगा। इसी दिशा में बा० गुलाब राय, नगेन्द्रजी और श्री सत्येन्द्र के प्रयास भी महत्त्वपूर्ण हैं।

'विश्व भारती' में 'हिन्दी कहानी-साहित्य' पर जो लेख श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने पढ़ा था, वह हिन्दी के लिए एक बिल्कुल नई चीज़ था। आदर्श आलोचक के अनेक गुण इस लेख में हमें मिले—साहस, सचाई और शैली का ओज। इस लेख में हिन्दी साहित्यकारों के छोटे-छोटे नख-चित्र हमें विशेष अच्छे लगे। प्रेमचन्दजी की बड़ी-बड़ी मूछें, स्वर ऊँचा करके हँसने की आदत और ग्रामीणों का-सा वेष; 'प्रसाद' के जीवन-रथ की परिधि, घर से दशाश्वमेध, दशाश्वमेध से घर—चल-चित्र की भाँति ये दृश्य आँखों के सामने घूम जाते हैं।

सत्साहित्य की सृष्टि में हिन्दी के पत्रकारों का हाथ बहुत-कुछ रहेगा। नये लेखकों को वही बटा-बढ़ा सकते हैं। किसी ज़माने में 'सरस्वती', 'माधुरी' और 'विशाल भारत' से हिन्दी को काफ़ी प्रेरणा मिली थी। 'हंस' ने अपने जीवन के आरम्भकाल से अब तक हिन्दी की काफ़ी सेवा की है। 'वीणा' और 'साहित्य सन्देश' ने भी अच्छा आलोचनात्मक काम किया है। जिस साहित्य के पोषक निष्पक्ष आलोचक और गुण-ग्राहक हैं, उस साहित्य का भविष्य उज्ज्वल है। 'गुन न हिरानो गुनगाहक हिरानो है।'

२

एक दृष्टि से हम देखते हैं कि हिन्दी-साहित्य में आलोचना का काम पुराने ढर्रे पर चला आ रहा है; यानी बारीकियाँ ढूँढ़ना और बाल की खाल निकालना। साहित्य समाज का प्राण-स्वर है, यह मानकर चलनेवाली आलोचना हिन्दी में नहीं-सी है। जिस प्रकार रीतिकाल के कवि अलंकार-विवेचना करते थे, वही आज भी हमारे साहित्य-विद्यालयों में हो रहा है, मानो समाज और साहित्य में युगान्तरकारी परिवर्तन हुए ही न हों। आज के अंग्रेजी-पढ़े, आलोचक अरस्तू और मैथ्यू ऑर्नल्ड की दुहाई देते हैं, किन्तु आलोचना लिखते समय भूल जाते हैं कि कला जीवन का चित्रण है। जिन आलोचकों ने पाश्चात्य-पद्धति को अपनाया, वे भी हमें साहित्य की बुनियादों तक न पहुँचा सके। उनका आलोचना-शास्त्र केवल सतह का परिवर्तन मात्र था।

आलोचक का काम गुण-दोष-विवेचन समझा जाता है। वह किसी कविता या कहानी की ख़ूबियाँ हमें समझा दे, बस उसका काम ख़त्म हो गया। वह साहित्य की अन्तरंग समीक्षा कर समाज के आधार-स्तम्भों तक नहीं पहुँच पाता। पहले सामन्ती युग में वह अलंकार गिनता था। आज पूँजीवादी युग में वह कल्पना की उड़ान पसन्द करता है।

यदि आलोचक साहित्य और कला की बुनियादों तक पहुँचकर उनकी विवेचना करता है, तो निश्चय ही वह उन्हें आगे बढ़ने में मदद दे सकता

है। साहित्य हवा में नहीं तैयार होता, समाज की वास्तविकता और उसकी संस्कृति का वह सच्चा नक्शा है। आज के संक्रान्ति-काल में वह कलाकार उच्च कोटि की रचना नहीं कर सकते, जो समाज की गढ़न से अनभिज्ञ हैं, या उसके प्रति उदासीन हैं। पारखी केवल गढ़न से ही ख़ुश नहीं हो जाता, वह सोने का गुण भी देखता है।

आज हिन्दी आलोचना में कुछ ग़लतफ़हमियाँ फैल रही हैं, जिनका स्पष्टीकरण ज़रूरी है। यह भ्रम अधिकतर ऑस्कर वाइल्ड के स्कूल की देन है और निर्जीव कला के जनक हैं। कुछ फ़ायड, आडलर आदि के विश्लेषण की समूल नक़ल का परिणाम हैं।

कहा जाता है कि कला युग और समाज के ऊपर कोई अद्भुत सृष्टि है जिसका मूल्य अमिट है। यह कला व्यक्ति-विशेष के मन की उपज समझी जाती है, जिसका भौतिक-परिस्थितियों से कोई सम्बन्ध नहीं। कहा जाता है कि कला के आधार जीवन के शाश्वत सत्य हैं, जो कि कभी बद-लते नहीं। फ्रायड के फैलाये भ्रम अभी हिन्दी आलोचना में एक संकुचित परिधि में सीमित हैं।

यह भ्रम कम अध्ययन और मनन के फल हैं। कला की कसौटियाँ स्थिर करने के लिए समाज-विज्ञान का कुछ परिचय ज़रूरी है। तभी यह स्पष्ट होगा कि समाज के रूप के अनुसार ही कला का विकास हो सकता है। आज भी हम देख सकते हैं कि रूसी कला जीवन और आशा से ओत-प्रोत है, दूसरी ओर अंग्रेज़ी और फ्रेंच कलाकारों के प्राण छटपटा रहे हैं। फ़ासिस्त जर्मनी में कला का अन्त हो चुका था, और इन परिस्थितियों मे उच्च कोटि का कला-निर्माण असम्भव है।

सत्य, शिव और सुन्दर की आराधना को शाश्वत कहा जाता है, यानी जीवन में इनका रूप अपरिवर्तित है। हम जीवन को गतिशील और विकास-मान समझते हैं, जड़, स्थावर नहीं। सत्य और सुन्दर के भी अधिकाधिक विकसित मान हमें समाज और कला में मिलते हैं। हबशी के लिए मोटे

होठ और चीनियों के लिए छोटे सूजे हुए पैर ही सुन्दरता की पराकाष्ठा थे। प्लेटो और अरस्तू के लिए दास-प्रथा ही शाश्वत सत्य थी, और उनकी समस्त समाज-योजनाओं का आधार। जो सत्य आज हमें शाश्वत दीखता है, कल मिथ्या हो जाता है, क्योंकि समाज के बदलते जीवन में हम सत्य का नया तथा विकसित रूप देखते हैं। सूर्योदय और गुलाब भी हमें सदा सुन्दर नहीं लगते। एक कवि ने लिखा है :

जब जेब में पैसा होता है, जब पेट में रोटी होती है।
तब ज़र्रा-ज़र्रा हीरा है, तब हर एक शबनम मोती है॥

फ्रॉयड ने मनुष्य के अन्तर्मन का जो विकृत नक्शा खींचा है, वह भी शाश्वत सत्य नहीं, वरन् क्षयग्रस्त विलासी समाज का नक़्शा है। फ्रॉयड के अनुसार अधिकतर कला Oedipus Complex की उपज है, यानी मा के प्रति पुत्र की वासना, जो बचपन से ही चली आती है। यह विचार स्वस्थ समाज पर लागू नहीं हो सकते, यह क्षय रोग के कीटाणु हैं।

हम कला को समाज की जीवन-शक्ति समझते हैं, समाज से अलग अन्तरिक्ष की रचना नहीं। जो कला ह्रासमूलक शक्तियों का शिकार बन जाती है, वही निर्जीव हो जाती है और सामाजिक प्रगति में सहायता नहीं कर पाती।

आलोचक का लक्ष्य केवल टेकनीक-विवेचना ही नहीं, उसे कला के अन्तस्तल तक पहुँचना चाहिए। इस प्रकार आलोचक केवल मध्यस्थ ही नहीं, वरन् समाज और संस्कृति के विकास का स्रष्टा भी बन सकता है। यदि आज हम हिन्दी के आलोचकों की ओर दृष्टि डालें, तो कितने इस गम्भीर उत्तरदायित्व की रक्षा कर रहे हैं?

स्वर्गीय पं० रामचन्द्र शुक्ल आधुनिक हिन्दी आलोचना के मुख्य स्तम्भ थे। उन्होंने प्राचीन आलोचना-शास्त्र और पाश्चात्य कसौटियों को साथ-साथ लेकर हिन्दी साहित्य की छानबीन की, और एक स्वतन्त्र आलोचना-शैली का निर्माण किया। शुक्लजी हिन्दी के गम्भीरतम आलोचक थे।

टेकनीक के गुण-दोप में उन्होंने सूक्ष्मदर्शिता दिखाई । सूर, तुलसी और जायसी के उत्कृष्ट अध्ययन उन्होंने हिन्दी साहित्य को दिये । शुक्लजी की दृष्टि अतीत की ओर थी । आधुनिक हिन्दी साहित्य के निर्माण में उन्होंने हमारा हाथ नहीं बँटाया, बल्कि विरोध ही किया । आज के साहित्य की ओर जब भी उन्होंने दृष्टि उठाई, वह उन्हें खोटा लगा । यह सच है कि इधर, जब कि आधुनिक साहित्य प्रसव-काल की पीड़ा से निकल चुका था, शुक्लजी की उससे कुछ सहानुभूति हो चली थी, किन्तु यह घटना घट जाने के बाद की बुद्धिमानी थी । शुक्लजी ने हिन्दी आलोचना को गम्भीर रूप दिया और पुराने ढंग की तू-तू मैं-मैं से बाहर निकाला, अतः हमें उनका आभार स्वीकार करना चाहिए। साथ ही उनकी दृष्टि की सीमाएँ भी समझना आवश्यक है ।

श्री हज़ारीप्रसाद द्विवेदी अपने कर्तव्य मे सजग हैं और उनकी अनुभूति विस्तृत और व्यापक है। हज़ारीप्रसादजी ने अपने व्यक्तित्व को सर्वाङ्ग बनाने में कुछ उठा नहीं रक्खा है और अपनी ग्रहण करने की क्षमता के कारण आप लीक छोड़कर भी चल सकते हैं । आप कहते हैं—'कालिदास ने अयोध्या की दारुण दीनावस्था दिखाने के बहाने मानो गुप्त सम्राटों के पूर्ववर्त्ती काल के समृद्ध नागरिकों की जो दुर्दशा हुई थी उसी का अत्यन्त हृदय विदारी चित्र खींचा है। शक्तिशाली राजा के अभाव में नगरियों की असंख्य अट्टालिकाएँ भग्न, जीर्ण और पतित हो चुकी थीं। उनके प्राचीर गिर चुके थे, दिनान्त-कालीन प्रचण्ड आँधी से छिन्न-भिन्न मेघ-पटल की भाँति वे श्रीहीन हो गये थे।' ('रघुवंश') द्विवेदीजी पाठक को उस समस्त संस्कृति का सामन्ती ढाँचा पहचानने में मदद नहीं देते । उसके प्रति आपको गहरी ममता है। हम द्विवेदीजी के कृतज्ञ हैं, कि प्राचीन चिन्ता से इतना घनिष्ट संबन्ध होते हुए भी नवीन के प्रति आपमें उपेक्षा-भाव नहीं :

'नवीन चिन्ता जितनी भी कच्ची, जितनी भी अल्पवयस्क और जितनी

भी अस्थिर स्वभाववाली क्यों न हो उसमें नवीन प्राण हैं और प्राणवत्ता सबसे बड़ा गुण है।'

श्री शांतिप्रिय द्विवेदी ने आधुनिक साहित्य पर ख़ूब लिखा है। आपकी अनुभूति तरल है, किन्तु उसके पीछे कोई ठोस बौद्धिक तत्त्व नहीं। अपने जीवन में संघर्ष से विवश आप प्रगतिशील शक्तियों की ओर उन्मुख हुए हैं। टॉलस्टॉय और गांधी का प्रभाव आपके व्यक्तित्व पर इतना गहरा है कि आप जीवन के भौतिक आधार-तत्त्वों को मानने में असमर्थ हैं। इसका मतलब यह है कि मनुष्य समाज-निर्माण की भौतिकता से बचकर अध्यात्म की शरण ले, यद्यपि शांतिप्रियजी इतनी दूर नहीं जाते। आप समय के साथ पग मिलाकर चलने की पूरी चेष्टा कर रहे हैं और आज के साहित्य-निर्माण में आपने हाथ बटाया है।

कुछ आलोचक यह भी कहते हैं कि हिन्दी के कवि हीन-भावना (Inferiority Complex) के शिकार हैं। यदि इस बात में कुछ भी सच है तो हम इतना कहने से ही संतुष्ट नहीं हो सकते। हमें पता लगाना होगा कि किन सामाजिक परिस्थितियों में पड़कर हमारे कवि इस हीनता का अनुभव कर रहे हैं। हमें उन परिस्थितियों को बदलना होगा।

हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में आज भी कुछ ऐसी शक्तियाँ सतर्क और जागरूक हैं जिनके कारण हम हताश नहीं हो सकते। यह लेखक कला के सामाजिक ह्रास के कारण समझते हैं, और उन परिस्थितियों को बदलना चाहते हैं जिनके कारण स्वस्थ कला आज नहीं पनप पाती। भारतीय समाज और कला की प्रगतिशील शक्तियाँ संगठित हो रही हैं और बल पकड़ रही हैं। विदेशी पूँजीवाद से मोर्चा लेकर हमारी सामाजिक चेतना जाग उठी है और उसका प्रभाव हमारे साहित्य पर भी पड़ रहा है।

आलोचना में प्रगतिशील शक्तियों का नेतृत्व श्री शिवदानसिंह चौहान ने किया है। आप यू० पी० प्रगतिशील लेखक संघ के मन्त्री थे और समाज-विज्ञान का आपने गहरा अध्ययन किया है। आप साहित्य-विवेचना में

बुनियादी तत्त्वों तक आसानी से पहुँच जाते हैं। आप अनुभूति रखकर भी निर्मम बुद्धिवादी हैं। आपकी परख कठोर अग्नि के समान है जिसमें पड़कर धातु की असलियत का फ़ौरन पता लगता है। बीमारी और व्यक्तिगत उलझनों के कारण परिमाण में अभी चौहान ने अधिक नहीं लिखा, किन्तु जो कुछ भी लिखा है उसमें सचाई के साथ-साथ गहराई है। आपके अनेक निबन्ध 'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता', 'छायावादी कविता में असंतोष-भावना', 'पन्त की वर्तमान कविता-धारा', 'भारत की जन-नाट्यशाला', 'हिन्दी का कथा-साहित्य' आदि हमारे आलोचना-साहित्य के दीप-स्तम्भ हैं। इन निबन्धों का संग्रह 'प्रगतिवाद' नाम से निकल गया है।

पंतजी भी 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में वर्ग-संस्कृति के आलोचक के रूप में प्रकट हुए हैं। पंतजी का अध्ययन गहरा और सुलझा हुआ है। उनका बुद्धिवादी दृष्टिकोण उन्हें वर्ग-संस्कृति के तत्त्वों तक पहुँचा देता है। पन्तजी लिखते हैं:—

'आज सत्य, शिव, सुन्दर करता, नहीं हृदय आकर्पित,
सभ्य, शिष्ट और संस्कृत लगते, मन को केवल कुत्सित
संस्कृति कला सदाचारों से, भव-मानवता पीड़ित
स्वर्ण-पींजड़े में है बन्दी, मानव-आत्मा निश्चित।'

पन्तजी का प्रगतिशील शक्तियों के साथ आना एक स्मरणीय घटना थी। इसका हिन्दी साहित्य के निर्माण पर गहरा असर पड़ा था।

नरेन्द्र शर्मा ने आधुनिक हिन्दी कविता का विस्तृत अध्ययन किया। आपके विचारों की रूपरेखा आपके निबन्ध 'हिन्दी कविता के बीस वर्ष' से स्पष्ट हो चुकी है। 'प्रवासी के गीत' की भूमिका आज के साहित्य की मार्क्सवादी दृष्टिकोण से आलोचना है। 'कला चिरजीवी' में पुरानी संस्कृति के संकुचित प्रसार पर आपने प्रकाश डाला है।

आज के कवि का जीवन असफलताओं से घिरा है। पग-पग पर वह

ठोकर खाता है। उसका गीत उसके कण्ठ में घुटकर विषैला पड़ने लगता है, उसका कातर नाद फैलकर खण्डहरों में गूँज उठता है :

'क्या कंकड़ पत्थर चुन लाऊँ ?'

नरेन्द्र ने कवि-जीवन के अरमानों और उसकी निराशाओं का तत्त्व समझ लिया है। इसीलिए वह यह कभी न लिखेंगे :

'जग बदलेगा किन्तु न जीवन'

आज जीवन को बदलने के लिए जग को बदलना आवश्यक हो गया है।

डा० रामविलास शर्मा हिन्दी के प्रतिभासम्पन्न और तेजस्वी आलोचक हैं। आपकी लेखनी में निर्भीकता, स्वाधीनता और बल है। आपका अध्ययन गहरा है। प्रेमचन्द और भारतेन्दु युग पर विस्तृत आलोचना लिखी है। इसके अतिरिक्त आपके साहित्य पर बैसवाड़े के किसान की जागरूकता और तत्परता की छाप भी है।

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने हाल में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया है। पूना साहित्य परिषद् में सभापति के पद से दिये अपने भाषण में आपने प्रगति का पक्ष ग्रहण किया है। साहित्य और समाज में गति और परिवर्तन आप स्वाभाविक मानते हैं। आप यह भी मानते हैं कि आज की परिस्थितियां में समाजवाद ही प्रगतिशील शक्ति है, किन्तु आप फिर भी पूछते हैं कि प्रगति का पथ समाजवाद का पथ ही क्यों हो ? इसका उत्तर तो आप स्वयं ही दे चुके हैं। आज की शक्तियों में समाजवाद की शक्ति ही प्रगतिशील है, अतएव प्रगतिशील कलाकार अथवा आलोचक आगे चलकर उस पथ का अनुसरण करेगा। आगे चलकर वाजपेयीजी पूछते हैं कि कुछ दिन बाद समाज का रूप बदलेगा, नये प्रश्न हमारे सामने उठेंगे, तब क्या होगा ? उत्तर स्पष्ट है। नई समस्याओं का सुझाव नई संस्कृति को देना होगा। किन्तु यह समस्याएँ भौतिक नहीं, मनोवैज्ञानिक होंगी। अब तक समाज दो वर्गों में विभाजित रहा है : शोषक और शोषित।

बुनियादी तत्त्वों तक आसानी से पहुँच जाते हैं। आप अनुभूति रखकर भी निर्मम बुद्धिवादी हैं। आपकी परख कठोर अग्नि के समान है जिसमें पड़कर धातु की असलियत का फ़ौरन पता लगता है। बीमारी और व्यक्तिगत उलझनों के कारण परिमाण में अभी चौहान ने अधिक नहीं लिखा, किन्तु जो कुछ भी लिखा है उसमें सचाई के साथ-साथ गहराई है। आपके अनेक निबन्ध 'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता', 'छायावादी कविता में असंतोष-भावना', 'पन्त की वर्तमान कविता-धारा', 'भारत की जन-नाट्यशाला', 'हिन्दी का कथा-साहित्य' आदि हमारे आलोचना-साहित्य के दीप-स्तम्भ हैं। इन निबन्धों का संग्रह 'प्रगतिवाद' नाम से निकल गया है।

पंतजी भी 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में वर्ग-संस्कृति के आलोचक के रूप में प्रकट हुए हैं। पंतजी का अध्ययन गहरा और सुलझा हुआ है। उनका बुद्धिवादी दृष्टिकोण उन्हें वर्ग-संस्कृति के तत्त्वों तक पहुँचा देता है। पन्तजी लिखते हैं:—

'आज सत्य, शिव, सुन्दर करता, नहीं हृदय आकर्षित,
सभ्य, शिष्ट और संस्कृत लगते, मन को केवल कुत्सित
संस्कृति कला सदाचारों से, भव-मानवता पीड़ित
स्वर्ण-पींजड़े में है बन्दी, मानव-आत्मा निश्चित।'

पन्तजी का प्रगतिशील शक्तियों के साथ आना एक स्मरणीय घटना थी। इसका हिन्दी साहित्य के निर्माण पर गहरा असर पड़ा था।

नरेन्द्र शर्मा ने आधुनिक हिन्दी कविता का विस्तृत अध्ययन किया। आपके विचारों की रूपरेखा आपके निबन्ध 'हिन्दी कविता के बीस वर्ष' से स्पष्ट हो चुकी है। 'प्रवासी के गीत' की भूमिका आज के साहित्य की मार्क्सवादी दृष्टिकोण से आलोचना है। 'कला चिरजीवी' में पुरानी संस्कृति के संकुचित प्रसार पर आपने प्रकाश डाला है।

आज के कवि का जीवन असफलताओं से घिरा है। पग-पग पर वह

ठोकर खाता है। उसका गीत उसके कण्ठ में घुटकर विषैला पड़ने लगता है, उसका कातर नाद फैलकर खण्डहरों में गूँज उठता है :

'क्या कंकड़ पत्थर चुन लाऊँ ?'

नरेन्द्र ने कवि-जीवन के अरमानों और उसकी निराशाओं का तत्त्व समझ लिया है। इसीलिए वह यह कभी न लिखेंगे :

'जग बदलेगा किन्तु न जीवन'

आज जीवन को बदलने के लिए जग को बदलना आवश्यक हो गया है।

डा० रामविलास शर्मा हिन्दी के प्रतिभासम्पन्न और तेजस्वी आलोचक हैं। आपकी लेखनी में निर्भीकता, स्वाधीनता और बल है। आपका अध्ययन गहरा है। प्रेमचन्द और भारतेन्दु युग पर विस्तृत आलोचना लिखी है। इसके अतिरिक्त आपके साहित्य पर बैसवाड़े के किसान की जागरूकता और तत्परता की छाप भी है।

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने हाल में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया है। पूना साहित्य परिषद् में सभापति के पद से दिये अपने भाषण में आपने प्रगति का पक्ष ग्रहण किया है। साहित्य और समाज में गति और परिवर्तन आप स्वाभाविक मानते हैं। आप यह भी मानते हैं कि आज की परिस्थितियों में समाजवाद ही प्रगतिशील शक्ति है, किन्तु आप फिर भी पूछते हैं कि प्रगति का पथ समाजवाद का पथ ही क्यों हो ? इसका उत्तर तो आप स्वयं ही दे चुके हैं। आज की शक्तियों में समाजवाद की शक्ति ही प्रगतिशील है, अतएव प्रगतिशील कलाकार अथवा आलोचक आगे चलकर उस पथ का अनुसरण करेगा। आगे चलकर वाजपेयीजी पूछते हैं कि कुछ दिन बाद समाज का रूप बदलेगा, नये प्रश्न हमारे सामने उठेंगे, तब क्या होगा ? उत्तर स्पष्ट है। नई समस्याओं का सुझाव नई संस्कृति को देना होगा। किन्तु यह समस्याएँ भौतिक नहीं, मनोवैज्ञानिक होंगी। अब तक समाज दो वर्गों में विभाजित रहा है : शोषक और शोषित।

समाजवाद इस वर्ग-भेद को दूर कर एक वर्गहीन समाज की स्थापना करेगा। इस समाज में मनुष्य का शोषण न होगा और इस प्रकार आदिम युग का अन्त और इतिहास का आरम्भ होगा। नवीन संस्कृति के अन्तर्गत मनुष्य की आर्थिक समस्याएँ सदा के लिए हल हो चुकेंगी।

प्रगतिवाद का स्वर हिन्दी-साहित्य में बल पकड़ रहा है। अनेक तरुण साहित्यकार इसके प्रभाव में आ रहे हैं। हमें सन्तोष है कि पुराने महारथियों का ध्यान भी इधर आकर्षित हो रहा है। हिन्दी आलोचना को आज छोटी-मोटी खूबियाँ छोड़कर साहित्य के तल तक पैठना होगा, उसके आधारतत्त्वों तक पहुँचना होगा, आगे का रास्ता सुझाना होगा और भविष्य के निर्माण में मदद करनी होगी। जो आलोचक आज भी बाल की खाल निकालने में ही लगे हैं, समय उनका मुँह न देखेगा और अपनी गति से चलता ही जायगा।

रंग-मंच

हिन्दी की अभी तक कोई स्वतन्त्र रंग-मंच-परिपाटी नहीं बनी, जिसके अनुरूप हमारे नाटकों की रचना हो। हमारे साहित्यिक नाटक वाचनालय की शान्ति में ही रुचते हैं। नाटक के नाम से जो रचनाएँ रंच-मंच पर खेली जाती हैं, वे साहित्यिक नहीं होतीं। वे पारसी रंग-मंच की प्रणाली का अनुकरण करती हैं। हिन्दी की साहित्यिक जनता दिन-प्रति-दिन बढ़ रही है और सफल साहित्यिक नाटकों का अभिनय देखने को उत्सुक है। ऐसी दशा में हमारे साहित्यकारों का यह कर्तव्य हो जाता है कि रंग-मंच की आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए वे नाटक लिखें। हमें हर्ष है कि हमारे तरुण नाटककार इधर ध्यान दे रहे हैं।

भारतीय नाटक की प्राचीन परम्परा लुप्तप्राय है। संस्कृत के सुन्दर,

सुगठित नाटक तो हमें अब भी पढ़ने को मिलते हैं, किन्तु पुराने नाट्यगृहों की परम्परा सर्वथा खो चुकी है। संस्कृत के अधिकतर नाटक राजसभाओं में अभिनय की वस्तु थे। शाकुन्तल, मालती माधव, मुद्राराक्षस, मृच्छकटिक आदि राज-सभाओं के नाटक थे। शायद क्षुद्रक, मालव, लिच्छवि, शाक्य आदि गण-राज्यों में जनसाधारण के रंग-मंच की परम्परा रही हो, जिसका अब कोई चिह्न अवशिष्ट नहीं।

ग्रीस के नाट्य-गृहों में हजारों दर्शक बैठ सकते थे। वहाँ नाटक देखना धर्म-कार्य समझा जाता था, क्योंकि नाटक द्वारा वे देवता की अर्चना करते थे। इसी प्रकार शेक्सपियर के समकालीन नाट्य-गृहों में जनता अबाध वेग से उमड़ती थी। भारतीय चित्रकला में हमें यह भावना मिलती है। कहते हैं कि अजन्ता की दीवारों के चित्र बौद्ध भिक्षुओं ने बनाये थे। हमारे नाट्य-गृहों में जो जनता उमड़ती है; वह साहित्यिक नाटक से अभी कितनी दूर है?

भारतेन्दु आधुनिक हिन्दी रंग-मंच के जनक थे। आपने अनेक नाटक लिखे और भारतेन्दु-नाटक-मंडली ने उनका सफल अभिनय भी किया। इस रंग-मंच ने संस्कृत की परिपाटी को फिर से जीवित किया। 'सत्य हरिश्चन्द्र' हमें संस्कृत के नाटकों का स्मरण दिलाता है। इसकी दृष्टि बीते हुए युग की ओर है। 'भारत-दुर्दशा' और 'प्रेमयोगिनी' आदि में आधुनिक समाज का प्रतिबिम्ब है। 'चन्द्रावली' वास्तव में काव्य है, जिसका कलेवर मात्र नाटक का रूप लिये है। भारतेन्दु की साधना ने हिन्दी रंग-मंच को जीवन-शक्ति दी, किन्तु फिर भी वह पनप न सका। साहित्य का रंग-मंच से यह मिलन क्षणिक ही रहा।

हिन्दी रंग-मंच को जीवित करने का दूसरा प्रयास व्याकुल भारत-नाटक-मंडली ने किया। व्यवसायी मंडलियों में उर्दू का ही बोलबाला था। उनके अभिनेता कभी हिन्दी का व्यवहार भी करते थे, तो विकृत रूप में; देश की प्राचीन संस्कृति से इनका कोई सम्पर्क न था। 'व्याकुल' का नाटक

'बुद्धदेव' बहुत लोकप्रिय हुआ। इस नाटक में हिन्दी का व्यवहार हुआ था और इस पर भारतीय संस्कृति की छाप थी। व्याकुल-मंडली के अभिनेता हिन्दी शब्दों का उच्चारण भी शुद्ध करते थे।

इसी समय स्वर्गीय द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों का हिन्दी में अनुवाद हुआ और कॉलेज, यूनिवर्सिटी के छात्रों में इनका खूब प्रचार हुआ। अव्यवसायी मंडलियों ने स्व० राय महोदय के 'शाहजहाँ', 'मेवाड़ पतन' आदि नाटकों का वर्षों अभिनय किया। इस प्रकार हमारे बीच अभिनय की एक क्षीण परिपाटी जीवित बनी रही।

पारसी नाटक-मंडलियों का ध्यान भी हिन्दी की ओर गया। 'न्यू एलफ्रेड' नाटक-मण्डली के लिए बरेली के पं० राधेश्याम कविरत्न ने 'वीर अभिमन्यु', 'भक्त प्रहलाद' आदि नाटकों की रचना की। इनकी भाषा हिन्दी अवश्य थी, किन्तु इन नाटकों में साहित्यिकता का अधिक अंश न था। ये पारसी नाट्य-प्रथा के केवल हिन्दी रूप थे। इन मण्डलियों का अभिनय जीवन-हीन, विकृत, रूढ़ि-ग्रस्त था। पारसी रंग-मंच हमें जीवन से दूर किसी मिथ्या-जग में पहुचाता था। वास्तविकता से यह अभिनय कोसों दूर था।

पं० माखनलाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन-युद्ध' हिन्दी रंग-मंच के इतिहास में एक स्मरणीय घटना थी। इस नाटक के अनेक सफल अभिनय साहित्य समितियों ने किये। 'कृष्णार्जुन-युद्ध' में साहित्यिकता के साथ-साथ नाट्य-गुण विशेष मात्रा में मौजूद था। पं० बदरीनाथ भट्ट अधिकतर प्रहसन लिखते थे। आपकी नाटिका 'चुङ्गी की उम्मेदवारी' हास्य में ओत-प्रोत है। हास्यात्मक नाटक का वह प्रखर, निर्मल स्वरूप अभी हिन्दी में नहीं आया, जिसके अभ्यस्त हम शॉ आदि की नाट्यकला से हो गये हैं।

'प्रसाद' के साथ हम हिन्दी नाटक के इतिहास का नया पृष्ठ पलटते हैं। 'प्रसाद' गम्भीर, सुसंस्कृत और चिन्तनशील व्यक्ति थे। आपने गम्भीर, साहित्यिक नाटकों की तन्मयता से रचना की। आपकी ऐतिहासिक खोज

सराहनीय थी। किंवदन्तियों पर आप कभी निर्भर न रहते थे। अतः 'नाग-यज्ञ', 'अजातशत्रु', 'चंद्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त', 'ध्रुव स्वामिनी' आदि आपके नाटक हमारे प्राचीन इतिहास को बड़ी देन हैं। इन नाटकों का अच्छा अभिनय भी हो सकता है, किंतु इनकी क्लिष्ट भाषा से अभिनेता कुछ भय खाते हैं। एक अनुशासित साहित्यिक जनता ही इन नाटकों के अभिनय में योग दे सकती है। 'प्रसाद' की कृपा से हमारे भंडार में उच्च-कोटि के साहित्यिक नाटक हैं। किंतु कोई विशिष्ट रंग-मंच उनके अनुरूप हमारे पास नहीं। 'कामना', 'एक घूँट' आदि का अभिनय हम अब भी कर सकते हैं, किंतु अभी तक इनका जीवन वाचनालय और क्लास-रूम तक ही सीमित है।

इस कोटि में कवि श्री पंत का नाटक 'ज्योत्स्ना' भी आता है। उच्च कोटि की पाठ्य-सामग्री तो यह रहा है, किंतु इसके अभिनय का कहीं सफल प्रयास हुआ हो, यह हमें ज्ञात नहीं। इस कार्य को हिन्दी साहित्य-सम्मेलन सफलतापूर्वक सम्पादित कर सकता है। किसी वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर कवि की देख-रेख में इस नाटक का अभिनय हो, तो हिंदी रंग-मंच के विकास में हमें अनन्य सहायता मिले। पंतजी ने इधर अनेक नाटक लिखे हैं। इन पर उदयशंकर के संस्कृति केन्द्र का अवश्य ही शुभ प्रभाव होगा।

हिन्दी में पिछले वर्षों में नाटक तो खूब लिखे गये हैं, किन्तु उनके अभिनय कम हुए हैं। स्वर्गीय प्रेमचन्द, श्री सुदर्शन, पं० गोविन्दवल्लभ पन्त आदि नाटककारों के रूप में हमारे सामने आ चुके हैं। नए लेखकों में 'उग्र', 'अश्क', पं० उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविन्ददास आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। 'उग्र' का नाटक 'महात्मा ईसा' उनकी गम्भीरतम कृति है और विषय के अनुरूप ही उसकी महत्ता भी है। 'ईसा' का हास्य बहुत निर्मल और मनोरम है।

नवयुग के नाटककारों के लिए हम यह तो अवश्य ही कह सकते हैं

कि उनके नाटक अभिनय के लिए लिखे गये हैं, किन्तु हिन्दी का कोई स्वतन्त्र रंग-मंच नहीं, इस कारण अभी तक वे सजीव नहीं हुए। भारत के उन्नतिशील चित्रपट का प्रभाव रंग-मंच पर भी पड़ेगा। विशेषतः 'न्यू थियेटर्स' आदि के यथार्थवादी अभिनय का प्रभाव अवश्य हिंदी के अभिनेताओं पर पड़ेगा। पृथ्वीराज कपूर के अभिनय में हम प्रौढ़ता और यथार्थवादिता बड़ी मात्रा में पाते हैं। इस प्रकार हिन्दी-नाटक क्रमशः जीवन के निकट आ रहा है। हम इबसन, शॉ, गॉल्ज़वर्दी के नाटक पढ़ते हैं। पाश्चात्य चित्रपट की प्रगति देखते हैं। नये आदर्श हमारे सामने हैं। कब तक हम पारसी रंग-मंच-प्रणाली के दास बने रह सकते हैं? एक उन्नति का मार्ग रेडियो ने हमारे बीच खोल दिया है। हमें हर्ष है कि कुछ साहित्यिकों के नाटक रेडियो पर अभिनीत हुए हैं।

रंग-मंच का विकास व्यवसायी दल नहीं करेंगे। उसका नेतृत्व साहित्यिक ही कर सकते हैं। छात्र-मंडलियाँ और अन्य व्यवसायी-दल संक्षित नाटक सफलता-पूर्वक खेल सकते हैं। हमें हर्ष है कि हिन्दी-संसार का ध्यान एकांकी नाटकों की ओर गया है। श्री भुवनेश्वर वर्मा का 'कारवाँ' और डा० रामकुमार वर्मा के संग्रह 'पृथ्वीराज की आँखें' आदि हमारे सामने हैं।

कुछ वर्ष पहले श्री जगदीशचन्द्र माथुर के दो अति सुन्दर नाटक 'रूपाभ' में निकले थे; 'भोर का तारा' तथा 'जय और पराजय।' इन नाटकों का प्रयाग और आगरा में बहुत सफल अभिनय हुआ। इस श्रेणी के नाटकों की हिन्दी रंच-मंच के लिए बड़ी आवश्यकता है।

हिन्दी रंग-मंच के भविष्य की कुछ हम कल्पना कर सकते हैं। भारतीय जनता की अनुभूतियाँ और आशाएँ इस सजीव रंग-मंच में केन्द्रित होंगी—भारतीय जीवन के वह निकट होगा। उसकी भाषा देश के प्रगतिशील जन-समाज को सहज बोधगम्य होगी। उसकी वाणी में जीवन के प्रति आलोचना-भाव होगा। केवल पुराने बेलबूटों की रंग-मंच नक़ल न

करेगा। प्राणभार से आकुल इस रंग-मंच की लोकप्रियता का अनुमान हम कठिनता से कर सकते हैं। यही रंग-मंच पेरीक्लीज़ के ग्रीस और शेक्स-पियर के इंगलैण्ड में रचित नाट्य-साहित्य की समता कर सकेगा और कालिदास की मर्यादा का उत्तराधिकारी बनेगा।

किस प्रकार हम उस रंग-मंच की सृष्टि में मदद कर सकते हैं? साहित्यिकों की परिषद् इधर ध्यान दे सकती है। हम एक नाट्य-समिति का सूत्रपात करें जिसमें उदयशंकर, पन्तजी आदि का योग माँगा जाय; धन एकत्र कर एक अभिनय-भवन निर्माण किया जाय और समय-समय पर अभिनय योग्य नाटक आमन्त्रित किये जायँ। क्या यह बात कल्पनातीत है? हमें ऐसे रंग-मंच की ज़रूरत है जो हमारे जन-समाज का प्रतिनिधि बन सके, जिसमें हमारी आशा-अभिलाषाएँ प्रतिबिम्बित हों।

भारतीय जन नाट्य-संघ ने इस प्रयास को सफलतापूर्वक उठाया है। हिन्दी प्रदेश में उसकी सजीव शाखाएँ बनाने की बड़ी आवश्यकता है।

प्रेमचन्द की उपन्यास-कला

(१)

स्व० प्रेमचन्द ने जब हिन्दी-साहित्य में पैर रक्खा, वह उसके जाग्रति का युग था। भारतेन्दु ने जब लिखना शुरू किया था, उस समय साहित्य और कला का पारखी केवल जराजीर्ण सामन्ती समाज था; मध्य वर्ग का जन्म ही हो रहा था। प्रेमचन्द को समझनेवाली मध्यवर्ग की जनता काफ़ी तादाद में तैयार हो चुकी थी। इसका कारण भारत में पूँजीवाद का आगमन था। इस जागृति के युग में हमारा कथा-साहित्य क़िस्सा तोता-मैना और बैताल पचीसी, चन्द्रकान्ता, भूतनाथ और मि० ब्लैक के जासूसी कर्तब छोड़ 'सेवा-सदन' और 'प्रेमाश्रम' की ओर मुड़ा।

भारत की आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था संक्रान्तिकाल में है, किन्तु एक नई शक्ति भी हमारे बीच उठ रही है जो समाज का कायाकल्प करके हमें फिर उन्नति के पथ पर अग्रसर करेगी। इस उन्नति के पथ में अनेक शक्तियाँ बाधा डाल रही हैं, किन्तु उनकी पराजय निश्चित है।

हमारे इतिहास के इस लम्बे युग का पूरा विवरण प्रेमचन्द के साहित्य में मिलेगा। साम्राज्यशाही के कारण भारतीय पूँजीवाद के विकास में बाधा पड़ती रही, किन्तु गाँव में जर्जर सामन्तशाही को पूरी सहायता मिली। नगर में उन्नत मध्यमवर्ग और श्रमजीवियों ने और गाँव में निम्न श्रेणियों ने स्वाधीनता का झण्डा ऊँचा किया, किन्तु अभी उस महायज्ञ में पूर्णाहुति नहीं पड़ी है।

प्रेमचन्द का साहित्य असल में भारतीय गाँव का आधुनिक इतिहास है। नगर से उन्हें कभी वास्तविक सहानुभूति नहीं हुई। गान्धीवाद के प्रभाव में वह गाँव का सरल, निर्मल जीवन अपना ध्येय मानते रहे। उनकी आशाएँ पाँडेपुर पर केन्द्रित थीं, बनारस पर नहीं। भविष्य तो नगर के साथ है, किन्तु भविष्य का नगर 'लाभ' के बल पर अवलम्बित न होगा।

प्रेमचन्द की साहित्यिक दुनिया इसी विशाल भारतीय जनसमाज का प्रतिबिम्ब है। इस साहित्य में हमें उसका विस्तृत वर्णन मिले। उसके संघर्ष, विजय, पराभव का विशद चित्रण।

प्रेमचन्द की दुनिया एक खँडहर-मात्र है। चतुर्दिक् यहाँ दैन्य, निराशा, दारिद्रय का चित्र है, किन्तु नव-जीवन का सन्देश भी इस समाज की रग-रग और कपोलों में पहुँच चुका है। प्रकृति का यहाँ अद्भुत साज-शृंगार है; फाग, डफ़, अबीर—और आम और महुए के पेड़ों पर कोयल की तान।

यह दुनिया अनेक खिलाड़ियों की रंगभूमि है। पल भर अपना करतब दिखाकर वे यहाँ से चले जाते हैं। एक मेले की पूरी भीड़ यहाँ मिलेगी, धक्का-मुक्की और तिल रखने को न ठौर। किसान, अहीर, पासी, अन्धे

भिखारी, लोभी वणिक; व्यवसायी, पूँजीपति, ज़मींदार, रईस, ओहदेदार, पण्डे, मुल्ला, वृद्ध, आबाल, वनिता सभी इस भीड़ में मौजूद हैं। यह विश्वामित्र की सृष्टि से अधिक सफल मानव की सृष्टि है, और इसमें न्याय, विवेक, त्याग और आदर्श के हाथ अन्तिम विजय निश्चित है।

(२)

प्रेमचन्द का साहित्य परिमाण में काफ़ी है। सेवा-सदन, प्रेमाश्रम, वरदान, रंगभूमि, काया-कल्प, प्रतिज्ञा, निर्मला, कर्मभूमि, ग़बन, गोदान, इसके अतिरिक्त दो नाटक और अनेक कहानियाँ। इस साहित्य में दिव्य चक्षुओं से देखा हुआ जीवन का एक बृहत् टुकड़ा मिलेगा, अनेक आकर्षक व्यक्ति, साथ ही कहानी का आनन्द और जीवन का तथ्य।

'सेवा-सदन' में मध्य-वर्ग के पतन का एक चित्र है, जिसे आगे भी बार-बार प्रेमचन्द ने दुहराया है। आमदनी कम, ख़र्च अधिक, ऊपर सफ़ेदपोशी का ढोंग। यह विडम्बना एक व्यक्ति अथवा परिवार की नहीं, पूरे समाज की है। कम वेतनभोगी स्कूल मास्टर का संकुचित जीवन, विलास की लालसा, समाज की दुर्व्यवस्था, पतिता स्त्रियों का पथ—यह वीभत्स चित्र कलाकार ने खींचा। यह उसकी पहली उड़ान थी, किन्तु पहली बार ही व्योम-विहारिणी बनी। मध्यवर्ग और नगर-जीवन की असफलताओं का इतना विस्तृत विवरण प्रेमचन्द ने फिर नहीं किया। फिर वह गाँव की ओर झुक गये। यौवन में दाल की मंडी का चक्कर लगाकर उनकी कल्पना ने 'सेवा-सदन' और 'प्रेमाश्रम' की शरण ली।

'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्द गाँव की ओर मुड़े। यह जर्जर सामंतशाही का पहला विस्तृत चित्र उन्होंने खींचा। ज़मींदारी प्रथा का विषाक्त वातावरण, कुलीनता की लाज, स्वार्थपरता, त्याग, किसान-समाज की दीनता, अक्षमता, किन्तु बढ़ती संगठित शक्ति। 'गोदान' में उन्होंने इस चित्र को दोहराया, बड़े रस और अलंकार-परिपूर्ण भाषा और भावुकता से। किन्तु इस बार ज़मींदार के हृदय-परिवर्तन की आशा प्रेमचन्द छोड़ चुके थे।

'रंगभूमि' भारतीय समाज का एक व्यापक विशाल चित्र है। रंगभूमि रईसों और पंडों का प्रिय काशीधाम और पास का गाँव पाँडेपुर है। यह गाँव स्व० प्रेमचन्दजी का गाँव है और सूरदास का मॉडल यहाँ उन्हें एक अंधा भिखारी मिला था। इस कथा के विशाल चित्रपट पर कलाकार ने अपनी तूलिका से सभी तबक़ों का चित्रण किया; हिंदू रईस, ईसाई वणिक, मुसलमान, कुलीन, गिरती दशा में अंग्रेज़ अफ़सर, अहलकार, स्वयंसेवक, राजघराने, रियासतों की दलित प्रजा, रूढ़ि का जकड़ा ग्रामीण समाज, और कथा का सरताज अंधा फ़कीर सूरदास। घूम-फिरकर कथा पाँडेपुर में ही केन्द्रित होती है। कारण है सिगरेट की फ़ैक्टरी जिसके खुलने से गाँव में अनेक पातक फैलते हैं, अत्याचार होते हैं और अंत में जाग्रति होती है।

'कायाकल्प' में प्रेमचन्द परलोकवाद की ओर झुके। यह प्रवृत्ति उनके साहित्य में सदा रही है। उनकी कहानी 'मूँठ' इसका एक उदाहरण है। पार्थिव जग में जो हम चर्म-चक्षुओं से देखते हैं, उसके पार कुछ है—यह धारणा बढ़कर 'कायाकल्प' में कथा-वस्तु का रूप विकृत करती है। इस कारण 'कायाकल्प' केवल सामाजिक कथा नहीं रही। वह व्यक्ति के जन्म-जन्मान्तर, योगाभ्यास, कायाकल्प आदि पचड़ों में पड़ कुछ राइडर हैगर्ड (Rider Haggard) के 'शी' (She) का आकार-प्रकार ले बैठी है। साथ-ही-साथ उसमें पुराने कुलीनों के प्रति बड़ा मधुर व्यंग्य भी है—मुंशी वज्रधर के चित्रण में।

'कर्मभूमि' एक सार्वजनिक आंदोलन का अध्ययन है। किस प्रकार जनता का बल चींटी के आकार से क्रमशः हाथी बन जाता है इसका वर्णन इस कथा में है।

'निर्मला' वृद्ध-विवाह का चित्र है। एक पूरा परिवार इसके कारण बिगड़ जाता है। यहाँ विमाता का एक कुशल मनोवैज्ञानिक अध्ययन भी है।

'ग़बन' हिन्दू गृह कलह, हिन्दू नारी की आभूषण-लालसा और निम्न-मध्यवर्ग की विडम्बना और पतन का शक्तिशाली चित्र है। 'ग़बन' हिन्दू

परिवार के कुण्ठित जीवन का गम्भीर निरूपण है। इस उपन्यास में हो
विशाल कलकत्ता के नगर-जीवन की भी झाँकी मिलती है।

'गो-दान' में प्रेमचन्द फिर गाँव की ओर मुड़े, नूतन उल्लास औ
शक्ति लेकर। 'गोदान' वसन्त के छाया-पट पर बनाया गया झिलमि
चित्र है। उनकी भाषा यौवन-माधुरी से छलकी पड़ती है। किन्तु गाँ
की दुर्दशा पर उनके आँसू भी निकले पड़ते हैं। इस भयानक संघर्ष अं
शोषण का उनकी कुपित, कुण्ठित आत्मा सामूहिक बल के अतिरिक्त को
प्रतिकार नहीं देखती और 'गोदान' एक प्रकार से बिना अंत की कहा
है। होरी के चित्रण में कुशल कलाकार के हाथों में वही पुरानी कारीग
प्रौढ़ता और सफ़ाई है।

(३)

इस कथा-प्रवाह में कलाकार के अनेक मन्सूबे, खिलवाड़, अद्वित
कौशल, चिर-संचित यत्न लीन हैं। उनकी ओर हमें एक विहंगम द
डालना चाहिए।

प्रेमचन्द हिन्दी के तपसी कलाकार थे। सामाजिक क्रांति की भाव
से उनकी रचना ओत-प्रोत है। स्वयं अपने जीवन में वह सक्रिय क्रां
कारी थे। उन्होंने आदर्श के लिए अपने को मिटा दिया। किन्तु उन
सबसे महान् क्रियात्मक प्रयोग उनकी रचना है।

संगठित सामूहिक शक्ति क्रांति का मार्ग है, यह हम निरन्तर उन
रचनाओं में देखते हैं। हमारे दलित वर्ग ज़रा से नेतृत्व की आड़ प
संगठित हो विजय के पथ पर बढ़ सकते हैं, यह हम 'प्रेमाश्रम', 'रंगभू
और 'कायाकल्प' आदि कथाओं में देखते हैं।

इस क्रान्ति का क्या रूप प्रेमचन्द देखते थे? 'ऐसी क्रान्ति जो
व्यापक हो, जीवन के मिथ्या आदर्शों का, झूठे सिद्धान्तों का, परिपा
का अन्त कर दे। जो एक नये युग की प्रवर्त्तक हो, एक नई सृष्टि
कर दे।' (कर्मभूमि) हमारे दलित वर्ग के त्राण का सन्देश इस व

'रंगभूमि' भारतीय समाज का एक व्यापक विशाल चित्र है। रंगभूमि रईसों और पंडों का प्रिय काशीधाम और पास का गाँव पाँडेपुर है। यह गाँव स्व० प्रेमचन्दजी का गाँव है और सूरदास का मॉडल यहाँ उन्हें एक अंधा भिखारी मिला था। इस कथा के विशाल चित्रपट पर कलाकार ने अपनी तूलिका से सभी तबक़ों का चित्रण किया; हिंदू रईस, ईसाई वणिक, मुसलमान, कुलीन, गिरती दशा में अंग्रेज़ अफ़सर, अहलकार, स्वयंसेवक, राजघराने, रियासतों की दलित प्रजा, रूढ़ि का जकड़ा ग्रामीण समाज, और कथा का सरताज अंधा फ़क़ीर सूरदास। घूम-फिरकर कथा पाँडेपुर में ही केन्द्रित होती है। कारण है सिगरेट की फ़ैक्टरी जिसके खुलने से गाँव में अनेक पातक फैलते हैं, अत्याचार होते हैं और अंत में जाग्रति होती है।

'कायाकल्प' में प्रेमचन्द परलोकवाद की ओर झुके। यह प्रवृत्ति उनके साहित्य में सदा रही है। उनकी कहानी 'मूँठ' इसका एक उदाहरण है। पार्थिव जग में जो हम चर्म-चक्षुओं से देखते हैं, उसके पार कुछ है—यह धारणा बढ़कर 'कायाकल्प' में कथा-वस्तु का रूप विकृत करती है। इस कारण 'कायाकल्प' केवल सामाजिक कथा नहीं रही। वह व्यक्ति के जन्म-जन्मान्तर, योगाभ्यास, कायाकल्प आदि पचड़ों में पड़ कुछ राइडर हैगर्ड (Rider Haggard) के 'शी' (She) का आकार-प्रकार ले बैठी है। साथ-ही-साथ उसमें पुराने कुलीनों के प्रति बड़ा मधुर व्यंग्य भी है—मुंशी वज्रधर के चित्रण में।

'कर्मभूमि' एक सार्वजनिक आंदोलन का अध्ययन है। किस प्रकार जनता का बल चींटी के आकार से क्रमशः हाथी बन जाता है इसका वर्णन इस कथा में है।

'निर्मला' वृद्ध-विवाह का चित्र है। एक पूरा परिवार इसके कारण बिगड़ जाता है। यहाँ विमाता का एक कुशल मनोवैज्ञानिक अध्ययन भी है।

'ग़बन' हिन्दू गृह कलह, हिन्दू नारी की आभूषण-लालसा और निम्न-मध्यवर्ग की विडम्बना और पतन का शक्तिशाली चित्र है। 'ग़बन' हिन्दू

परिवार के कुण्ठित जीवन का गम्भीर निरूपण है। इस उपन्यास में हमें विशाल कलकत्ता के नगर-जीवन की भी झाँकी मिलती है।

'गो-दान' में प्रेमचन्द फिर गाँव की ओर मुड़े, नूतन उल्लास और शक्ति लेकर। 'गोदान' वसन्त के छाया-पट पर बनाया गया झिलमिल चित्र है। उनकी भाषा यौवन-माधुरी से छलकी पड़ती है। किन्तु गाँव की दुर्दशा पर उनके आँसू भी निकले पड़ते हैं। इस भयानक संघर्ष और शोषण का उनकी कुपित, कुण्ठित आत्मा सामूहिक बल के अतिरिक्त कोई प्रतिकार नहीं देखती और 'गोदान' एक प्रकार से बिना अंत की कहानी है। होरी के चित्रण में कुशल कलाकार के हाथों में वही पुरानी कारीगरी, प्रौढ़ता और सफ़ाई है।

(३)

इस कथा-प्रवाह में कलाकार के अनेक मन्सूबे, खिलवाड़, अद्वितीय कौशल, चिर-संचित यत्न लीन हैं। उनकी ओर हमें एक विहंगम दृष्टि डालना चाहिए।

प्रेमचन्द हिन्दी के तपसी कलाकार थे। सामाजिक क्रांति की भावना से उनकी रचना ओत-प्रोत है। स्वयं अपने जीवन में वह सक्रिय क्रांतिकारी थे। उन्होंने आदर्श के लिए अपने को मिटा दिया। किन्तु उनका सबसे महान् क्रियात्मक प्रयोग उनकी रचना है।

संगठित सामूहिक शक्ति क्रांति का मार्ग है, यह हम निरन्तर उनकी रचनाओं में देखते हैं। हमारे दलित वर्ग ज़रा से नेतृत्व की आड़ पाकर संगठित हो विजय के पथ पर बढ़ सकते हैं, यह हम 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' और 'कायाकल्प' आदि कथाओं में देखते हैं।

इस क्रान्ति का क्या रूप प्रेमचन्द देखते थे? 'ऐसी क्रान्ति जो सर्वव्यापक हो, जीवन के मिथ्या आदर्शों का, झूठे सिद्धान्तों का, परिपाटियों का अन्त कर दे। जो एक नये युग की प्रवर्त्तक हो, एक नई सृष्टि खड़ी कर दे।' (कर्मभूमि) हमारे दलित वर्ग के त्राण का सन्देश इस क्रान्ति

में है, गाँव के दीन, दुखी, शोषित श्रेणियों का, विशेषकर किसान का। युग-युग की संचित निरंकुशता से विकृत ज़मींदारी प्रथा, साथ ही पुलिस आदि का रोग यह क्रान्ति समाप्त कर देगी। इस क्रान्ति की लहर दूर-दूर तक फैलकर समाज की मलिनता धो देगी। उदाहरण के लिए धर्म का ढोंग लीजिए :

'मि० जॉन सेवक—क्या तुम समझते हो कि मैं और मुझ-जैसे और हज़ारों आदमी, जो नित्य गिरजे जाते हैं, भजन गाते हैं, आँखें बन्द करके ईश-प्रार्थना करते हैं, धर्मानुराग में डूबे हुए हैं? कदापि नहीं।....धर्म केवल स्वार्थ संघटन है।' (रंगभूमि)

अथवा जेल-शासन लीजिए :,

'भोजन ऐसा मिलता था, जिसे शायद कुत्ते भी सूँघकर छोड़ देते, वस्त्र ऐसे जिन्हें कोई भिखारी भी पैरों से ठुकरा देता; और परिश्रम इतना करना पड़ता, जितना बैल भी न कर सके। जेल शासन का विभाग नहीं, पाशविक व्यवसाय है, आदमियों से ज़बरदस्ती काम लेने का बहाना, अत्याचार का निष्कण्टक साधन। (कायाकल्प)

इस प्रकार सामाजिक अन्धकार को कुरेदती कलाकार की अन्तर्दृष्टि चारों ओर पड़ी है, और जहाँ भी पहुँची है, दिव्य आलोक वितरित करती है।

भावना इस कलाकार की अन्तर्ज्योति का साधन है। इस भावना में देह, अदेह, जन, मग, पशु रँग जाते हैं और नवीन रूप में हमारे सामने आते हैं। इस व्यापक भावना के कारण ही प्रेमचन्द की तुलना गोर्की से की गई है। प्रेमचन्द बुद्धिवादी थे, किन्तु अतिरञ्जित भावना ने उन्हें आदर्शवादी बनाया था और उनके बुद्धिवाद के पीछे जनता के प्रेम की प्रेरणा थी।

प्रेमचन्द का एक प्रबल अस्त्र तीखे छुरे-सा उनका व्यंग्य है। क्रोध से क्षुब्ध जब उनकी कल्पना उग्र रूप ग्रहण नहीं करती, तब वे व्यंग्य का आश्रय लेते हैं। पण्डों के वर्णन में उनका व्यंग्य उपहास से भर जाता

है। अमीरी के चोंचलों का वर्णन वह मीठे और कोमल विनोद से करते हैं। आप कहते हैं: 'तोंद के बगैर पं० कुछ जँचता नहीं। लोग यही समझते हैं कि इनको तर माल नहीं मिलते, तभी तो ताँत हो रहे हैं। तोंदल आदमी की शान ही और होती है, चाहे पण्डित बने, चाहे सेठ, चाहे तहसीलदार ही क्यों न बन जाय।' (कायाकल्प)

प्रेमचन्द जीवन के किसी भी अंग का चित्र बड़ी कुशलता और सुघराई से खींचते थे। यही प्रेमचन्द कलाकार की सबसे बड़ी विजय थी; वह लेखनी उठाते थे और चित्र खींचना शुरू करते थे। उनके हाथ में बड़ी कुशलता थी। इस चित्रांकन में वह तन्मय, आत्म-विस्मृत हो जाते थे। कभी कभी तो रंग जरूरत से ज़्यादा गाढ़ा हो जाता था। सूरदास को लीजिए; एक अंधे भिखारी का वर्णन कर रहे हैं; उसमें इतने तन्मय हुए कि अन्धा भिखारी गाड़ी के पीछे मीलों दौड़ता चला जाता है।

इस महान चित्रशाला में हमें जीवन के सभी चित्र मिलेंगे। किन्तु एक चित्र उन्होंने फिर-फिर दोहराया है; जर्जर भारतीय सामन्तशाही का दृश्य; कुण्ठित किसान और संकट में पड़ी जमींदारी-प्रथा। भारतीय गाँव उनकी रङ्गभूमि है और किसान उनका नायक। उनकी सम्पूर्ण आशाएँ वहाँ केन्द्रित हैं। 'शहर अमीरों के रहने और क्रय-विक्रय का स्थान है। उसके बाहर की भूमि उनके मनोरंजन और विनोद की जगह है। उसके मध्य भाग में उनके लड़कों की पाठशालाएँ और उनके मुक़दमेबाजी के अखाड़े होते हैं, जहाँ न्याय के बहाने गरीबों का गला घोंटा जाता है। शहर के आस-पास ग़रीबों की बस्तियाँ होती हैं।....' (रंगभूमि) यह शहर के प्रति उनका रुख है।

प्रेमचन्द की कथाओं में दृश्य-नाट्य बहुत है। एक-एक घटना का वह तल्लीनता से वर्णन करते हैं। भारतीय रंग-मंच के उत्थान-काल में वह नाटककार हुए होते। जो दृश्य उनकी लेखनी वर्णन करती है, उसे नेत्र मानो सजीव देखते हों; यह उनकी कला का विशेष चमत्कार है। इस

में है, गाँव के दीन, दुखी, शोषित श्रेणियों का, विशेषकर किसान का। युग-युग की संचित निरंकुशता से विकृत ज़मींदारी प्रथा, साथ ही पुलिस आदि का रोग यह क्रान्ति समाप्त कर देगी। इस क्रान्ति की लहर दूर-दूर तक फैलकर समाज की मलिनता धो देगी। उदाहरण के लिए धर्म का ढोंग लीजिए :

'मि० जॉन सेवक—क्या तुम समझते हो कि मैं और मुझ-जैसे और हज़ारों आदमी, जो नित्य गिरजे जाते हैं, भजन गाते हैं, आँखें बन्द करके ईश-प्रार्थना करते हैं, धर्मानुराग में डूबे हुए हैं? कदापि नहीं।....धर्म केवल स्वार्थ-संघटन है।' (रंगभूमि)

अथवा जेल-शासन लीजिए :,

'भोजन ऐसा मिलता था, जिसे शायद कुत्ते भी सूँघकर छोड़ देते, वस्त्र ऐसे जिन्हें कोई भिखारी भी पैरों से ठुकरा देता; और परिश्रम इतना करना पड़ता, जितना बैल भी न कर सके। जेल शासन का विभाग नहीं, पाशविक व्यवसाय है, आदमियों से ज़बरदस्ती काम लेने का बहाना, अत्याचार का निष्कण्टक साधन। (कायाकल्प)

इस प्रकार सामाजिक अन्धकार को कुरेदती कलाकार की अन्तर्दृष्टि चारों ओर पड़ी है, और जहाँ भी पहुँची है, दिव्य आलोक वितरित करती है।

भावना इस कलाकार की अन्तर्ज्योति का साधन है। इस भावना में देह, अदेह, जन, मग, पशु रँग जाते हैं और नवीन रूप में हमारे सामने आते हैं। इस व्यापक भावना के कारण ही प्रेमचन्द की तुलना गोर्की से की गई है। प्रेमचन्द बुद्धिवादी थे, किन्तु अतिरञ्जित भावना ने उन्हें आदर्शवादी बनाया था और उनके बुद्धिवाद के पीछे जनता के प्रेम की प्रेरणा थी।

प्रेमचन्द का एक प्रबल अस्त्र तीखे छुरे-सा उनका व्यंग्य है। क्रोध से क्षुब्ध जब उनकी कल्पना उग्र रूप ग्रहण नहीं करती, तब वे व्यंग्य का आश्रय लेते हैं। पण्डों के वर्णन में उनका व्यंग्य उपहास से भर जाता

है। अमीरी के चोंचलों का वर्णन वह मीठे और कोमल विनोद से करते हैं। आप कहते हैं: 'तोंद के बगैर पं० कुछ जँचता नहीं। लोग यही समझते हैं कि इनको तर माल नहीं मिलते, तभी तो ताँत हो रहे हैं। तोंदल आदमी की शान ही और होती है, चाहे पण्डित बने, चाहे सेठ, चाहे तहसीलदार ही क्यों न बन जाय।' (कायाकल्प)

प्रेमचन्द जीवन के किसी भी अंग का चित्र बड़ी कुशलता और सुघड़ाई से खींचते थे। यही प्रेमचन्द कलाकार की सबसे बड़ी विजय थी; वह लेखनी उठाते थे और चित्र खींचना शुरू करते थे। उनके हाथ में बड़ी कुशलता थी। इस चित्रांकन में वह तन्मय, आत्म-विस्मृत हो जाते थे। कभी कभी तो रंग जरूरत से ज़्यादा गाढ़ा हो जाता था। सूरदास को लीजिए; एक अंधे भिखारी का वर्णन कर रहे हैं; उसमें इतने तन्मय हुए कि अन्धा भिखारी गाड़ी के पीछे मीलों दौड़ता चला जाता है।

इस महान चित्रशाला में हमें जीवन के सभी चित्र मिलेंगे। किन्तु एक चित्र उन्होंने फिर-फिर दोहराया है; जर्जर भारतीय सामन्तशाही का दृश्य; कुण्ठित किसान और संकट में पड़ी जमींदारी-प्रथा। भारतीय गाँव उनकी रङ्गभूमि है और किसान उनका नायक। उनकी सम्पूर्ण आशाएँ यहाँ केन्द्रित हैं। 'शहर अमीरों के रहने और क्रय-विक्रय का स्थान है। उसके बाहर की भूमि उनके मनोरंजन और विनोद की जगह है। उसके मध्य भाग में उनके लड़कों की पाठशालाएँ और उनके मुक़दमेबाजी के अखाड़े होते हैं, जहाँ न्याय के बहाने गरीबों का गला घोंटा जाता है। शहर के आस-पास ग़रीबों की बस्तियाँ होती हैं।....' (रंगभूमि) यह शहर के प्रति उनका रुख है।

प्रेमचन्द की कथाओं में दृश्य-नाट्य बहुत है। एक-एक घटना का वह तल्लीनता से वर्णन करते हैं। भारतीय रंग-मंच के उत्थान-काल में वह नाटककार हुए होते। जो दृश्य उनकी लेखनी वर्णन करती है, उसे नेत्र मानो सजीव देखते हों; यह उनकी कला का विशेष चमत्कार है। इस

नाट्य-गुण के कारण उनके कथा की गति में बड़ी तरलता, लचक और आकर्षण है। एक उदाहरण लीजिए :

'निर्मला चटपट बाहर निकली। मुन्शीजी उसके हाथ धुलाने लगे। मंगला चारपाई बिछाने लगी। मनोरमा बरोठे में आकर रुक गई। इतना अँधेरा था कि वह आगे क़दम न रख सकी। मरदाने कमरे में एक दीवार-गीर जल रही थी। झिनकू उतावली में उसे उतारने लगे तो वह जमीन पर गिर पड़ी। यहाँ भी अँधेरा हो गया। मुंशीजी हाथ में कुप्पी लेकर द्वार की ओर चले तो चारपाई की ठोकर लगी। कुप्पी हाथ से छूट पड़ी। आशा का दीपक भी बुझ गया।' (कायाकल्प)

प्रेमचन्दजी के कथानक विशेष मनोरंजक होते हैं। पाठक को बरबस बाँध लेते हैं। खाना-पीना बिसर जाता है। तम्बाकू के बोरों के पीछे छिप-कर पढ़े गये तिलस्माती उपन्यास इस प्रकार काम आये! घटना-प्रवाह के उतार-चढ़ाव में प्रेमचन्द सिद्धहस्त थे। 'रङ्गभूमि' उनका विशालकाय उपन्यास एक साँस में नहीं, तो दो में अवश्य पढ़ा जा सकता है।

उनकी कथा-वस्तु की हलचल समुद्र की तरंगों के सदृश है। घटना आगे बढ़ती है, तूल पकड़ती है। फिर पीछे हट जाती है। कथानक में यह कशमकश अन्त तक जारी रहती है। टेकनीक वही है जो 'बड़े घर की बेटी', 'पंच परमेश्वर' अथवा 'ईश्वरीय न्याय' आदि गल्पों में इतनी सफल है। कथानक में शक्ति के साथ-साथ लचक रहती है; जैसे किसी लौह-शलाका में।

चरित्र-चित्रण में प्रेमचन्द सिद्धहस्त थे। उन्होंने हिन्दी साहित्य को अनेक अमर पात्र दिये हैं। छोटे-बड़े पात्र तो उनकी कथाओं में अगणित भरे पड़े हैं, किन्तु इनमें कुछ हमारी जीवन-लीला के चिरसंगी बन गये हैं। सूरदास, विनय, अमरकान्त अथवा होरी इतिहास के अमर पात्रों से कम नहीं। इसी प्रकार स्त्रियों में सुमन अथवा सोफ़ी को समझना चाहिए।

प्रेमचन्द को मनुष्य-स्वभाव का अपरिमित ज्ञान था। बालक, बूढ़े,

युवा, स्त्री, पुरुष सभी के स्वभाव की उन्होंने विशद व्याख्या की है। प्रेमचन्द आदर्शवादी थे। मनुष्य का उनके मन में अपार आदर था। कहते हैं, मनुष्य अपने से ही दूसरों को भी परखता है। प्रेमचन्द स्वयं विनोदी थे, यद्यपि उनके आदर्श का झंडा कभी नीचा नहीं हुआ। उनकी खुलकर हँसने की आदत अब भी उनके मित्रों को याद है। यह विनोद-शीलता और आदर्शवाद उनके चरित्र-चित्रण में भी मौजूद हैं। वह मनुष्य-स्वभाव का ऊँच-नीच पहचानते थे। वह जानते थे कि ऊँचे-से-ऊँचे भी नीचे ढुलक पड़ते हैं और नीचे-से-नीचे भी पश्चात्ताप की आग में जलकर ऊपर उठने की क्षमता रखते हैं। सूरदास और होरी के स्वभाव में भी दुर्बलताएँ हैं, और काले खाँ सरीखे चोर डाकुओं के मनों में उच्च भावनाएँ। इस उदारता-मिश्रित स्वाभाविकता से प्रेमचन्द के पात्रों की गढ़न हुई है।

यह चरित्र-निर्माण ही उनके कथानक को आगे बढ़ाता है। कथानक का स्रोत प्रेमचन्द के जग में मनुष्य का चरित्र है, कोई दैवी अदृश्य शक्ति नहीं। चरित्र-निर्माण और घटना-जाल प्रेमचन्द की कला में एक अन्तरंग बन्धन में परस्पर बँधे हैं। दोनों मिलकर जीवन के सदृश ही विचित्र नक्काशी पेश करते हैं।

मनोविज्ञान की ठोस भूमि पर निर्मित यह कलाकार का चरित्र-जग प्रभावोत्पादक है। सूरदास के मन में भी एकाध बार प्रभुत्व की भावना उठती है। इन्दु के मन में सोफ़ी के प्रति ईर्ष्या जाग्रत हो जाती है। अहल्या विलास की लालसा में उलझ चक्रधर को तज देती है। किन्तु मनुष्य का स्वभाव ही है गिर-गिरकर उठना और आगे बढ़ना! बीच-बीच में प्रमचन्द मनुष्य-स्वभाव की विवेचना भी करते हैं :

'चञ्चल-प्रकृति बालकों के लिए अन्धे विनोद की वस्तु हुआ करते हैं। सूरदास को उनकी निर्दय बाल-क्रीड़ाओं से इतना कष्ट होता था कि वह मुँह-अँधेरे घर से निकल पड़ता और चिराग़ जलने के बाद लौटता। जिस

दिन उसे जाने में देर होती, उस दिन विपत्ति में पड़ जाता था। सड़क पर, राहगीरों के सामने उसे कोई शंका न होती थी; किन्तु बस्ती की गलियों में पग-पग पर किसी दुर्घटना की शंका बनी रहती थी। कोई उसकी लाठी छीनकर भागता; कोई कहता—'सूरदास, सामने गड्ढा है, बाईं तरफ़ हो जाओ।' सूरदास बाएँ घूमता, तो गड्ढे में गिर पड़ता।....' (रंगभूमि)

प्रेमचन्द की भाषा ठेठ हिन्दुस्तानी है, सीधी-सादी किन्तु मँजी, प्रौढ़, परिष्कृत; संस्कृत-पदावली से शुभ्र और उर्दू से चंचल। जो आलोचक कहते हैं कि हिन्दुस्तानी में ऊँचे भावों की रक्षा नहीं हो सकती, उनके सामने प्रेमचन्द का उदाहरण है :

'सकीना जैसे घबरा गई। जहाँ उसने एक चुटकी आटे का सवाल किया था, वहाँ दाता ने ज्योनार का एक भरा थाल लेकर उसके सामने रख दिया। उसके छोटे-से पात्र में इतनी जगह कहाँ? उसकी समझ में नहीं आता कि इस विभूति को कैसे समेटे। अंचल और दामन सब कुछ भर जाने पर भी तो वह उसे समेट न सकेगी।' (कर्मभूमि)

यह भाषा तीखी, पैनी, मर्मस्थल पर आघात करनेवाली है। चुस्त, मुहावरेदार और अलङ्कारमयी भी है। उपमा इसकी विशेषता है। जन-साधारण के जीवन से यह अपने शब्द-चित्र बनाती है : 'मुंशी वज्रधर उन रेल के मुसाफ़िरों में थे जो पहले तो गाड़ी में खड़े होने की जगह माँगते हैं, फिर बैठने की फ़िक्र करने लगते हैं और अन्त में सोने की तैयारी कर देते हैं।' (कायाकल्प)

विनोद इस भाषा से छलका पड़ता है : 'संसार में कपड़े से ज़्यादा बेवफ़ा और कोई वस्तु नहीं होती। हमारा घर बचपन से बुढ़ापे तक हर-एक अवस्था में हमारा है। वस्त्र हमारा होते हुए भी हमारा नहीं होता। आज जो वस्त्र हमारा है वह कल हमारा न रहेगा। उसे हमारे सुख-दुःख की ज़रा भी चिन्ता नहीं होती, फ़ौरन बेवफ़ाई कर जाता है। हम ज़रा बीमार हो जायँ, किसी स्थान का जलवायु ज़रा हमारे अनुकूल हो जाय,

वस हमारे प्यारे वस्त्र जिनके लिए हमने दर्ज़ी की दूकान की ख़ाक छान डाली थी, हमारा साथ छोड़ देते हैं।' (कायाकल्प)

यह भाषा 'गोदान' में परम रसवन्ती, अलङ्कार-बोझिल, कवितामयी हो गई है। इसके तरल प्रवाह में कथानक और कथोपकथन सजल गति से बहे हैं। पात्रों की सजीव वार्ता प्रेमचन्द कथाकार का निजी गुण है। यह सजीवता कुछ तो भाषा के कारण है, कुछ उनके गहरे अनुभव पर अवलम्बित। जो बातचीत हम प्रेमचन्द के उपन्यासों में सुनते हैं, वह जीवन में भी अपने चारों ओर सुन सकते हैं।

इसी कारण हम इनके उपन्यास-संसार को भारतीय जीवन का एक अभिन्न अंग कह सकते हैं।

४

प्रेमचन्द की टेक्नीक कितनी सफल और परिष्कृत है, इसका प्रमाण 'कायाकल्प' है। टेकनीक की कुशलता उपन्यास का आकर्षण बनाये रखती है। कथा-वस्तु की एक भारी भूल ने 'कायाकल्प' को सामाजिक उपन्यास की श्रेणी से निकालकर अध्यात्म के क्षेत्र में पहुँचा दिया। प्रेमचन्द की विचार-धारा में सदैव से अश्रुत, अदृश्य जग के प्रति ऐसी भावना की एक तरंग थी। 'रंगभूमि' में एक भीलनी ने विनय को एक बूटी दी जिसके बल से सोफ़ी के मन में वासना जग उठी। ऐसी ही कुछ विचित्र उनकी कहानी 'मूँठ' है। 'प्रेमाश्रम' में एक विलासी रईस योगबल से अपने शरीर का विष बाहर निकाल देता है।

प्रेमचन्द भावुक थे। कोई वैज्ञानिक दर्शन उनकी कला के पीछे नहीं है। इस कारण नवीन समाज का विधान भी उनकी दृष्टि में धुँधला-सा रहा। क्रान्ति के बाद गाँव में स्वर्ण-युग की सरलता और निष्कपटता का फिर राज्य होगा,—ऐसा शायद कुछ उनका स्वप्न था। यह कहिये कि गांधीजी का रामराज फिर लौटेगा। यह वैज्ञानिक चिन्तन नहीं है। सरिता-जल के समान मनुष्य का सामाजिक जीवन भी आगे ही बढ़ता है,

पीछे नहीं लौटता। हम मनुष्य का भविष्य सुविशाल निःस्पृह नगरों में देखते हैं, जिनकी जीवन-प्रेरणा लाभ नहीं, सामाजिक उपयोगिता होगी।

प्रेमचन्द का कथानक घटना बाहुल्य से दबा रहता है। उपन्यास की नवीन टेकनीक के अनुसार छोटी-छोटी घटनाएँ कथानक को आगे बढ़ाती हैं। ग़बन, गृह-त्याग, मृत्यु, लम्बी-लम्बी यात्राएँ—इनकी प्रेमचन्द के वस्तु-भाग में भरमार रहती है। 'निर्मला' में लगभग सभी पात्र मृत्यु के घाट उतार दिये गये हैं। 'रंगभूमि' का कथानक विशेष चंचल है। इसका कारण हम यह कह सकते हैं कि आज भारतीय जनसमाज का जीवन भी बहुत क्षुब्ध, आतुर और गतिशील है।

एक आरोप हमारा यह है कि कहीं कहीं प्रेमचन्द अस्वाभाविक हो जाते हैं। किसी घटना को तूल देते-देते वह उचित-अनुचित भूल जाते हैं। अन्धा सूरदास गाड़ियों के पीछे मील-मील भर कैसे दौड़ सकता है? सोफ़िया मि० क्लार्क के साथ अकेले राजस्थान में कैसे घूमी, यहाँ तक कि महाराज और दीवान भी उसे मिसेज़ क्लार्क समझते रहे? यह किस सामाजिक प्रथा में संभव है? 'कायाकल्प' में मरणासन्न मनोरमा चक्रधर के आते ही बच्चे को लेकर चारों ओर दौड़ने लगी! क्या यह कथाकार के अधिकार का दुरुपयोग नहीं? 'कर्मभूमि' में भद्र महिला सकीना अमरकान्त से दूसरी ही भेंट में घुल-मिलकर प्रेम की बातें करने लगी!

प्रेमचन्द के कुछ पात्र भी व्यक्ति की अपेक्षा 'टाइप' बन जाते हैं, धूर्त, मक्कार अथवा सन्त। ऐसा कभी-कभी ही हुआ है। 'रंगभूमि' में कर्मनिष्ठ, धर्म-भीरु ताहिरअली ग़बन कर बैठते हैं; किन्तु माहिरअली अथवा उनकी माताएँ बिल्कुल नहीं झुकतीं। मिसेज़ जॉन सेवक के हृदय से मातृ-भाव विलीन हो गया है। उनका चरित्र जड़ है, विकासमान नहीं। इसके विपरीत हम उनके अनेक पात्रों को गतिशील और चलमान देखते हैं। यह मनुष्य का स्वभाव है। वह निरन्तर स्थिर नहीं रहता।

(५)

एक पल प्रेमचन्द की तुलना अन्य उपन्यासकारों से करें।

प्रेमचन्द हमें सहज ही 'डिकेंस' का स्मरण दिलाते हैं; वही घटन बाहुल्य, पात्रों की भीड़-भाड़ और सामाजिक परिवर्तन की लगन। 'डिकें भी निम्न वर्गों का चित्रण करते हैं, किन्तु वह नगर-जीवन के चित्रकार और बहुधा उनके चरित्र विकृत, अस्वाभाविक हो गये हैं जैसे उन्हों दुर्बीन के ग़लत सिरे से जीवन देखा हो! 'डिकेंस' को लन्दन का चि कार कहा गया है। प्रेमचन्द ग्राम-जीवन के चित्रकार थे।

गोर्की से भी प्रेमचन्द की तुलना एक हद तक उपयुक्त है। दोनों क्रान्ति के समर्थक और दलित वर्गों के समर्थक थे। गोर्की के जगत् पात्रों की यह भीड़-भाड़ नहीं। यदि प्रेमचन्द किसान-जीवन के कलाका हैं, तो गोर्की मज़दूरों के। फ़ैक्टरी, बाज़ार-हाटों की हलचल, और क्रान्ति की अबाध गति—ये गोर्की की कथा 'माँ' के अपने गुण हैं। 'कर्मभूमि में कथानक का विकास 'माँ' के ही सदृश हुआ है।

गाल्ज़वर्दी ने भी अपने समाज का विस्तृत इतिहास लिखा है, किन् वह उच्च-मध्यवर्ग के प्राणी थे। इसी समाज में उनका जीवन केन्द्रित था। निम्न वर्गों की ओर भी वह झुके हैं, लेकिन अनुभूति के बल, अनुभव नहीं। पशुओं की मनोवृत्ति वह भी प्रेमचन्द के समान समझते हैं; किन् उनका स्नेही पशु घोड़ा या कुत्ता है; प्रेमचन्द का प्रिय पशु बैल है। य भेद उनकी कला को नींव तक हमें पहुँचाता है। घोड़ा अथवा कुत् विलास और मनोरंजन का साधन है, बैल रोज़ी का।

अपने देश में रवि बाबू और शरद् बाबू से उनकी तुलना हम क सकते हैं।

रवि बाबू के कथा-भाग में रेशम के तारों-सा कोमल रईसी या मध्य वर्ग का जीवन है। उनकी भाषा-माधुरी, चतुर शब्द-विन्यास, काव्यम जीवन-झाँकी हमें एक शान्त, स्निग्ध, वातावरण में पहुँचा देते हैं, ज

जीवन की विषमता और कठोरता विकराल रूप से हमारे सामने नहीं आतीं। भावनाओं और सौन्दर्य के जग में कवि की प्रेरणा विचरती है।

शरत् बाबू हिन्दू भद्र-समाज के कठोर आलोचक हैं, उसकी दहेज प्रथा के, ढकोसलों और दलबंदियों के। 'पल्ली समाज', 'अरक्षणीया' आदि हमारे समाज के वीभत्स चित्र हैं। शरत् बाबू के पात्र बहुत मर्म-स्पर्शी होते हैं। वह हमारे हृदय में बेहद उथल-पुथल मचा देते हैं।

प्रेमचन्द की कला में न तो रवि बाबू का काव्य-रस है, न शरत् बाबू का अन्तर्तम को कुरेदनेवाला मर्मस्पर्शी चरित्र-चित्रण। किन्तु आपने अपनी कला में भारतीय जीवन के उस विशाल, विस्तृत स्तर को छुआ है, जो अब तक अदृश्य और अछूता था। आपने भारत के मूक जन-समाज को वाणी और अभूतपूर्व साहित्यिक स्वर दिया है। यही आपकी बड़ी विभूति है। इस दृष्टिकोण से प्रेमचन्द कलाकार रवि बाबू और शरत् बाबू से भी एक पग आगे हैं।

'प्रसाद' की नाट्य-कला

पिछले वर्षों में एक-एक कर हिन्दी के कई महारथी उठ गये। काव्य में अब भी नवीन शक्तियाँ जाग्रत हैं, उपन्यास और कहानी के क्षेत्र में भी काम जारी है। नाटक के क्षेत्र में 'प्रसाद' के अनुरूप उत्तराधिकारी नहीं दिखाई पड़ते।

हिंदी नाटक का भण्डार वैसे भी रीता है। यह आश्चर्य की बात है, क्योंकि इस देश को नाट्य-कला का वरदान बहुत पहले से ही मिला था। ग्रीस के नाटकों की तुलना में सफल नाटक संस्कृत में लिखे गये थे। अब इस जाति की नाट्य-शक्ति क्यों परास्त और मौन है?

हिंदी में अपना कोई रंगमंच नहीं। पारसी नाटक मण्डलियों के

अभिनेताओं पर हम निर्भर रहे हैं। भारतेन्दु के नाटक रंगमंच के लिए लिखे गये थे। उनमें एक प्रकार की स्फूर्ति और अभिनव जीवन है। 'प्रसाद' जी के नाटक साहित्यिक और काव्य-प्रधान हैं। वाचनालय की शांति में ही उनका रस और जीवन है। रंगमंच के कोलाहल में उनकी सुकुमारता को कौन परख सकेगा? उसके लिए नये रंगमंच की ही नहीं, किन्तु भावुक और सुसंस्कृत द्रष्टाओं की आवश्यकता होगी।

अनेक वर्षों से 'प्रसाद' जी हिंदी के मुख्य नाटककार समझे जाते रहे हैं। उन्होंने तीन उपन्यास, अनेक कहानियाँ और काव्य-ग्रन्थ रचे थे। 'कामायिनी' ने यह सिद्ध कर दिया कि सर्वप्रथम तो 'प्रसाद' जी कवि थे, पीछे नाटककार और कथाकार।

'प्रसाद'जी के व्यक्तित्व में जो सादगी थी, उसके कारण उनके प्रति मन में श्रद्धा होती है। वह सब साहित्यिक झगड़ों और गुटबंदियों से बच-कर अनवरत काव्य-साधना में लीन थे। जगत् के रागद्वेष से अलग 'सत्य, शिव और सुन्दर' की उपासना में उन्होंने अपना जीवन बिता दिया।

इतिहास के प्रति 'प्रसाद'जी का प्रबल आकर्षण था। अपने उप-न्यासों में उन्होंने इतिहास का आँचल छोड़, आधुनिक जीवन का चित्रण किया। उनके अन्तर का कवि खँडहरों और प्राचीन भग्नावशेषों के अतीत जीवन की कल्पना कर उत्फुल्ल हो उठता था। उनकी रचनाओं में देश का इतिहास सजीव होकर हमारे नेत्रों के सामने घूम जाता है; जैसे कुछ देर के लिए अजन्ता अथवा बाग़ की गुफ़ाओं के चित्र शताब्दियों की निद्रा से जागकर रंगभूमि में आ पहुँचे हों।

'प्रसाद'जी कवि थे। काव्य ही उनके नाटकों का प्रधान गुण था। यदि कविता की परिभाषा 'रसात्मक वाक्य' मान ली जाय, तो 'प्रसाद'जी के नाटक, कहानी आदि रस में डूबे हैं।

काव्यमय भाषा कथा के विकास में बाधा पहुँचाती है। 'कंकाल' में निरन्तर 'प्रसाद'जी भाषा के जाल में उलझे। कहानी-लेखक की दृष्टि

से आपका मुख्य गुण वातावरण बनाना था। इसमें उनकी भाषा बड़ी, सहायक हुई। 'आकाश-दीप' की यही सफलता है।

'प्रसाद' नाटककार का विकास आसानी से देखा जा सकता है। उनकी इतिहास की खोज और चरित्र की सूझ आरम्भ से ही ऊँची थी। उनके विकास की छाप उनकी भाषा और गीतों पर है। 'राज्यश्री' के गाने दुर्बल हैं। क्रमशः यह दुर्बलता मिट गई और 'स्कन्दगुप्त' आदि नाटकों में काव्य-गुण का काफ़ी विकास हुआ है।

भाषा और भावों का अद्भुत सामंजस्य 'कामना' में मिलेगा। बहुधा उनके पात्र गद्य-काव्य ही बोलते हैं। 'कामना' के वातावरण में यह बात खप जाती है।

'कामना' रूपकबद्ध नाटक है। फूलों के द्वीप में तारा की सन्तान सुख और शांति से बसती है। उसकी उत्पत्ति का हाल 'कामना' में इस प्रकार है :

'जब विलोड़ित जलराशि स्थिर होने पर यह द्वीप ऊपर आया, उसी समय हम लोग शीतल तारिकाओं की किरणों की डोरी के सहारे नीचे उतारे गये। इस द्वीप में अब तक तारा की ही सन्तानें बसती हैं।'

समुद्र के पार किसी दूरवर्ती देश से आकर 'विलास' ने इस द्वीप की शान्ति नष्ट कर दी। स्वर्ण और मदिरा की सहायता से उसने 'कामना' पर विजय पा ली। द्वीप में अनाचार फैलने लगा।

इसी प्रकार ग्रीस-निवासी सोचते थे कि इतिहास के पहले मनुष्य-जाति का स्वर्ण-युग था। किन्तु पैंडोरा (Pandora) ने पापों की मंजूषा उत्सुकता के कारण खोलकर अशान्ति फैला दी। इसी प्रकार कहते हैं, उत्सुकता के कारण ईव (Eve) ने ज्ञान के वृक्ष का फल खा लिया। उसी का फल हम भोग रहे हैं।

'कामना' के कथानक का प्रवाह अविरल है। फूलों के द्वीप में अनेक नये शब्द सुन पड़ते हैं—'ईर्ष्या', 'द्वेष', 'दम्भ', 'पाखण्ड'। 'विवेक' की

सहायता से द्वीप-निवासी 'विलास' को निर्वासित करते हैं। क्या फूलों के द्वीप का वह खोया हुआ संतोष उन्हें फिर भी मिल सकता है? 'प्रसाद'जी दुःखान्त नाटक नहीं लिखते; नहीं तो 'कामना' का पटाक्षेप वहाँ हो सकता था, जहाँ 'विलास' 'लालसा' को रानी बनाता है।

'कामना' के गीत भी बहुत मीठे हैं। 'प्रसाद'जी के गीतों का उनके काव्य में विशेष स्थान है। यदि उनके सब नाट्य-गीतों का अलग संग्रह किया जाय, तो यह स्पष्ट हो जायगा। इन गीतों में व्यथा, मार्मिकता और कोमलता भरी है। 'कामना' का गीत तो बहुत ही सुन्दर है :

'सघन बन-वल्लरियों के नीचे
उषा और सन्ध्या-किरनों ने तार वीन के खींचे
हरे हुए वे गान जिन्हें मैंने आँसू से सींचे।
स्फुट हो उठी मूक कविता फिर कितनों ने दृग मींचे?
स्मृति-सागर में पलक-चुलुक से बनता नहीं उलीचे।
मानस-तरी भरी करुना-जल होती ऊपर-नीचे।'

'एक घूँट' में भी कुछ सुन्दर गीत हैं। यथा :

'जीवन-वन में उजियाली है।
वह किरनों की कोमल धारा
बहती ले अनुराग तुम्हारा।
फिर भी प्यासा हृदय हमारा
व्यथा घूमती मतवाली है।
हरित दलों के अन्तराल से
बचता-सा इस सघन-जाल से
यह समीर किस कुसुम-बाल से
माँग रहा मधु की प्याली है।'

'प्रसाद'जी को हम ऐतिहासिक नाटककार के रूप में देखने के अभ्यस्त हो गये हैं। उनके नाटक बड़ी खोज के बाद लिखे जाते थे। अनेक स्थलों

पर हमारे इतिहास का उन्होंने संशोधन भी किया। प्रसिद्ध इतिहास-वेत्ता राखाल बाबू भी इस बात को मानते थे। आपकी भूमिकाओं पर विद्वत्ता और खोज की मुहर है।

'कामना', 'एक घूँट' और 'विशाख' ऐतिहासिक नाटक नहीं हैं, परन्तु इनके वातावरण में प्राचीनता है। जिस समाज के चित्र 'मेघदूत' अथवा 'मालती-माधव' में मिलते हैं, उसी का चित्रण इन नाटकों में है। वह भारतीय सामन्तवाद का स्वर्ण युग था। आज केवल कला में उसका जीवन सुरक्षित है।

'जनमेजय का नाग-यज्ञ' में आर्य और नाग जातियों का संघर्ष चित्रित है। प्राचीन गुरुकुलों के यहाँ उज्ज्वल चित्र हैं। ऐसे ही वर्णन उपनिषद् आदि ग्रन्थों में मिलते हैं। भावों की प्रौढ़ता और कुशल चरित्र-चित्रण 'नाग-यज्ञ' की विशेषता है।

'अजातशत्रु' में भाषा और भी निखर गई है। 'अजातशत्रु' बुद्ध के जीवन-काल का चित्र है। उस समय उत्तर भारत के प्रमुख राज्य मगध, कोशल, कौशाम्बी आदि थे। 'स्वप्न-वासवदत्ता' में इन्हीं राज्यों का वर्णन है।

अजातशत्रु ने बिम्बसार का वध किया, इस मत से 'प्रसाद'जी सहमत नहीं। फिर भी बिम्बसार के गाम्भीर्य और अजातशत्रु के लोभ में एक प्रकार का आन्तरिक संघर्ष है। राजकुमार विरुद्धक के वक्तव्य सुन्दर हैं, किन्तु लम्बे हैं। 'अजातशत्रु' का चरित्र-चित्रण उच्च-कोटि का है। उत्तम नाटक के यहाँ सभी गुण हैं।

'चन्द्रगुप्त' 'प्रसाद'जी का सबसे लम्बा नाटक है। आपने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मौर्यवंश के राजा मुराजात शूद्र नहीं, पिप्पलीकानन के क्षत्रिय थे। भारत के इतिहास में यह युग चिरस्मरणीय है। कौटिल्य ने इसी समय 'अर्थ-शास्त्र' लिखा था और चन्द्रगुप्त ने सेल्यूकस को पराजित कर भारत का मुख उज्ज्वल किया था।

'मुद्राराक्षस' में कौटिलीय कुटिलता है, वह 'प्रसाद' जी के नाटक में नहीं। यहाँ अधिक आदर्शवाद और भावुकता है। कथानक की जटिलता में 'मुद्राराक्षस' अद्वितीय है। मेगस्थनीज़ के आधार पर 'चन्द्रगुप्त' का आदर्शवाद उचित दीखता है; किन्तु चाणक्य के चरित्र में भी 'प्रसाद' जी ने कुछ उज्ज्वलता ला दी है! 'मुद्राराक्षस' का स्थान इतिहास में सुदृढ़ है। उसके विरोध में 'प्रसाद'जी ने अपना स्वतन्त्र मत बनाकर साहस दिखाया है।

'चन्द्रगुप्त' में 'प्रसाद'जी की देश पूजा स्पष्ट झलकती है। भारत के प्रति आपका गान इतना सुन्दर है कि राष्ट्र-सभाओं के अधिवेशनों में इसे गाना चाहिए :

'अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।

× × ×

लघुसुरधनु से पंख पसारे, शीतल मलय समीर सहारे।
उड़ते खग जिस ओर मुँह किये, समझ नीड़ निज प्यारा।'

'ध्रुवस्वामिनी' गुप्त-काल के एक रहस्य पर प्रकाश डालता है। समुद्र-गुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय के बीच एक अन्य सम्राट् रामगुप्त के कुछ सिक्के मिले हैं। उन्हीं रामगुप्त की कथा यहाँ वर्णित है। 'ध्रुवस्वामिनी' की भाषा में ओज और सौन्दर्य है। चरित्र-चित्रण में प्रौढ़ता है। स्त्री-पात्र विशेष सफल हैं। गुप्तकाल की श्री और अवनति का यहाँ परिचय मिलता है।

'स्कन्दगुप्त' का विषय वही है, जो राखाल बाबू कृत 'करुणा' का। स्कन्द गुप्त भारत का भाल ऊँचा करनेवाले वीरों में थे। हूणों से युद्ध करते समय भारत के यह सम्राट् भूमि पर सोये थे। उनके साथ ही गुप्त-कुल की विजय-लक्ष्मी भी लुप्त हो गई। 'प्रसाद'जी के अनुसार दन्त-कथाओं के विक्रम स्कन्द ही थे। इन्हीं की राजसभा के कवि कालिदास थे।

नाट्य-कला की कसौटियों पर कसने से 'स्कन्दगुप्त' का स्थान बहुत

ऊँचा है। विजया और देवसेना का चरित्र-चित्रण सुन्दर है। स्कन्द, चक्रपालित, बुद्धवर्मा गुप्तकाल की विभूतियाँ हैं। बौद्ध भिक्षु हूणों के साथ मिलकर षड्यन्त्र रच रहे थे। गुप्त-साम्राज्य का वह मध्याह्न-काल था। सूर्य अस्ताचल की ओर झुक चले थे। पुरुगुप्त के अशक्त हाथों में राज-दण्ड थामने का बल न था। नाटक में इसका सजीव चित्र है।

'स्कन्दगुप्त' की भाषा प्रौढ़, चरित्र-चित्रण कुशल और कल्पना सुकुमार है।

'प्रसाद' ने हिन्दी में एक नये ढंग के नाटक की सृष्टि की। 'चन्द्रावली' काव्य-प्रधान नाटक था, और उसमें नाटक की अपेक्षा काव्य ही अधिक था। 'प्रसाद' के नाटक सर्वप्रथम साहित्य की विभूति हैं; किन्तु उचित परिस्थितियों में अभिनय के योग्य भी हैं।

अनेक उच्चकोटि के पात्रों से उन्होंने हिन्दी नाटक का भण्डार भरा है। आपके पात्र अधिकतर सुकुमार, भावुक और आदर्शवादी होते हैं। स्त्री पात्रों में नारीसुलभ कोमलता लाने में 'प्रसाद' विशेष सफल हुए। मध्यम कोटि के चरित्र 'प्रसाद' जी से हमको नहीं मिले, न मानव-स्वभाव की जटिलता।

'प्रसाद' को हिन्दी का स्कॉट (Scott) कहा जा सकता है। हमारे प्राचीन इतिहास के भग्नावशेषों की आपने रक्षा की है, और इतिहास के कङ्काल में जीवन-संचार किया है।

भाषा के प्रति 'प्रसाद'जी का मोह अधिक था। मधुर भाषा से लीन हो वह और सब भूल जाते थे। चरित्र-चित्रण और कथानक का भी महत्त्व आँखों की ओट हो जाता था।

'प्रसाद' के नाटकों में व्यथा का भार रहता है। इसके लिए आप विशेष चरित्र गढ़ते हैं। आपके गीत व्यथा से ओत-प्रोत होते हैं। किन्तु भारतीय परम्परा के अनुसार आप दुःखांत नाटक नहीं लिखते। नाट्य-

शाला से दर्शक प्रसन्न हृदय लौटें, यह हमारे नाटककारों का सदैव लक्ष्य रहा है।

'प्रसाद' कवि हैं, दार्शनिक नहीं। आपके नाटकों से हमें कोई विशेष सन्देश नहीं मिलता। जीवन के अनेक दृश्य—पीड़ा के, सुख के, आह्लाद के—आपने देखे हैं। रंगीन कल्पना में डुबोकर आप उन्हें चित्र-पट पर खींच देते हैं। किन्तु इस उदासीन कलाकार की अन्तरात्मा मनुष्य की वेदना के प्रति अधिक आकर्षित होती है।

अतीत के चित्रण में भी कलाकार सामाजिक शक्तियों का संघर्ष देख सकता है और किस प्रकार इतिहास में नया सामंजस्य स्थापित होता है, यह दिखा सकता है। 'नाग-यज्ञ' आदि में 'प्रसाद'जी ने ऐसा प्रयत्न भी किया, किन्तु अधिकतर वह वर्त्तमान जीवन की विषमताओं और कुरूपता को भूलकर अतीत के स्वप्न देखने में ही निमग्न थे।

एकांकी नाटक

एकांकी नाटक का लम्बे नाटक से लगभग वही संबन्ध है, जो कहानी का उपन्यास से। इनमें केवल लंबाई का ही अन्तर नहीं है। दोनों भिन्न कोटि की रचनाएँ हैं। एक में जीवन के किसी विशेष अंग की झलक रहती है, चरित्र का कोई एक पहलू, कोई घटना-संकेत; दूसरे में मिलती है जीवन की जटिलता, चरित्र की गुत्थियाँ, घटना-चक्र का नर्त्तन। एकांकी नाटक की कला अलग अपनी है। थोड़े-से समय में दर्शक को जीवन की विषम समस्याओं का कुछ अनुमान करा दे, यह एकांकी नाटक का लक्ष्य है।

एकांकी नाटक की आयु अधिक नहीं हुई। वैसे तो छोटे-छोटे दृश्य पुरातन से रंग-मंच पर दिखाये गये हैं। अँग्रेज़ी के पुराने नाटक

एक चिह्न एकांकी नाटक की सफलता भी है। जन-साधारण में नाट्य-कला के प्रति जो उत्साह है, उसे एकांकी नाटक से बेहद सहायता मिली है।

अंग्रेजी में एकांकी नाटक पुस्तकबद्ध हो गये हैं। पठन-पाठन के लिए अनेक मालाएँ उपलब्ध हैं। शॉ (Shaw), गॉल्ज़वर्दी (Galsworthy), येट्स (Yeats) आदि महारथियों ने भी अनेक एकांकी नाटक लिखे हैं। शॉ का सर्व-प्रसिद्ध संक्षिप्त नाटक The Man of Destiny नैपोलियन का रेखा-चित्र है। The Dark Lady of the Sonnets शेक्सपियर के जीवन की एक किंवदन्ती का मनोरंजक और कुछ व्यंग लिये वर्णन है। शायद सभी एकांकी नाटकों में अग्रगण्य और प्रभावशाली Synge का Riders to the sea है। इस छोटे-से दुःखान्त नाटक में बड़ी व्यथा भरी है, और इसकी सीधी-सादी भाषा में काव्य का गहरा पुट है।

पश्चिम में एकांकी नाटक के 'लघु जीवन' का इतिहास अभी से गर्वपूर्ण है। पाश्चात्य जीवन की अनेक अनुभूतियाँ यहाँ सुरक्षित हैं—उनके मधुर स्वप्न, मदिर विलास, आशा, अभिलाषाएँ, उनका हास्य, जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण।

हिन्दी का कोई स्वतन्त्र रंगमंच नहीं। हमारे रंगमंच पर पारसी कंपनियों का अधिकार रहा है। 'भारतेन्दु' और 'व्याकुल' नाटक-मंडलियों ने हमारे रंगमंच को साहित्यिक बनाने में भगीरथ प्रयत्न किया, किन्तु यह प्रयास विफल रहा। हिन्दी के नाटक केवल पढ़े जाते हैं। वाचनालय की शान्ति के बाहर उनका जीवन नहीं। इसका एक अपवाद 'एक भारतीय आत्मा' का 'कृष्णार्जुन युद्ध' था।

'भारतेन्दु' हमारे पहले नाटककार थे। उनके नाटक भी अभिनय के लिए लिखे गये थे, यद्यपि 'चन्द्रावली' को नाटक की अपेक्षा काव्य कहना अधिक उपयुक्त होगा। भारतेन्दु के नाटकों में एक प्रकार की हलचल और उद्दाम यौवन है। आपका असंपूर्ण नाटक 'प्रेमयोगिनी' संक्षिप्त नाटक

कोठरी ।' आपकी उपमाएँ—'मलिन वस्त्रों में बाईस वर्ष की युवती—जैसे आँसुओं की नीहारिका में नेत्र'; 'आपत्ति के समान एक २६-२७ वर्ष के युवक का प्रवेश'; 'घर का नौकर—जो भाग्य के समान काँप रहा है।' ऐसा यथार्थवाद अहमदअली की कहानियों में ही हमने देखा है।

'कारवाँ' के लेखक पर शॉ का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। आपने माना भी है कि आपका 'शैतान' शॉ का ऋणी है। 'श्यामा' पर 'Candida' की छाया पड़ी है। आप विवाह की विडम्बना में काफ़ी उलझे हैं। आपके नाटकों में अधिकतर दो तरह के पात्र मिलेंगे—एक तो समाज के आगे आदर्शवादी बने, भीतर से खोखले, कपटी व्यक्ति; दूसरे समाज के सामने पतित, विद्रोही, किन्तु भारी बलिदान की क्षमता रखनेवाले वीर। आपके नाटक पढ़कर अनायास ही Ibsen के 'Doll's House' अथवा 'Pillars of Society और शॉ के 'The Devil's Disciple', 'Candida' आदि का स्मरण हो आता है। किन्तु आपके दृश्य सच-मुच ही भारतीय जीवन की कठिन और व्यथित आलोचना हैं। इन नाटकों में जीवन की-सी असंपूर्णता है। हमें खेद है कि इन नाटकों को हिन्दी-जगत् में समुचित आदर-सम्मान नहीं मिला।

श्रीयुत पृथ्वीनाथ शर्मा का एकांकी नाटक 'दुविधा' भी पाश्चात्य टेक-नीक से प्रभावित है, किन्तु स्वयं उसमें अपना उमड़ता हुआ जीवन नहीं, जैसा 'कारवाँ' में अवश्य है!

श्रीयुत सज्जाद ज़हीर ने 'हंस' में 'बीमार' नाम का एकांकी लिखा था। आपकी भाषा सजीव हिन्दुस्तानी और आपके विचार प्रगतिशील हैं। आप राजनीतिक जीवन के कार्य-भार से दब गये हैं, किन्तु साहित्यकार के आपमें स्वाभाविक गुण हैं। समाज की बँधी व्यवस्था को आप कठोर आलोचनात्मक दृष्टि से देखते हैं और आपकी रचनाएँ नई दिशाओं की ओर इंगित करती हैं।

श्रीयुत रामकुमार वर्मा के एकांकी नाटकों के अनेक संग्रह 'पृथ्वीराज

की आँखें, 'रेशमी टाई' आदि प्रकाशित हुए हैं। नाटक अच्छे हैं, और ऊँची काव्य-कल्पना के गुण उनमें हमें निरन्तर मिले हैं। 'बादल की मृत्यु' तो नाटक के रूप में कविता ही है। 'चम्पक' हमको बहुत अच्छा लगा। 'नहीं का रहस्य' उससे कुछ उतरकर। उच्च मनुष्य-स्वभाव के यहाँ विशद चित्र हैं।

डा० वर्मा को पथ-दर्शक के रूप में हम नहीं देख सके। एकांकी नाटक को अथवा हिन्दी-साहित्य को यहाँ कोई नया पथ नहीं सुझाया गया। सरस भाषा और भावुकता जो इन नाटकों के प्रधान गुण हैं, वर्माजी की निजी संपत्ति हैं। टेकनीक आदि में कुछ वर्माजी ने नया अन्वेषण नहीं किया।

श्री लक्ष्मीप्रसाद मिश्र, 'अश्क', श्री उदयशंकर भट्ट और सेठ गोविन्ददास ने भी इस दिशा में सराहनीय प्रयास किया है। हिन्दी के सर्वोत्तम अभिनीत नाटक जगदीशचन्द्र माथुर के 'भोर का तारा' और 'जय और पराजय' हैं। इस दिशा में 'अश्क' के प्रयासों ने बड़े अभाव की पूर्ति की है।

हमें विश्वास होता है कि हिन्दी रंग-मंच और एकांकी नाटक का भविष्य उज्ज्वल है। उच्च-कोटि के मौलिक नाटक और अनुवाद हमारे सामने हैं। गुजराती के नवयुवक कवि श्री कृष्णलाल श्रीधराणी का एकांकी नाटक 'बरगद' हमें बहुत अच्छा लगा। अन्य भाषाओं में भी काम हो रहा है। हिन्दी की सृजन-शक्ति जाग्रत है। केवल एकांकी नाटक की ओर अभी वह उन्मुख नहीं हुई।

पन्तजी एक सुन्दर नाटक 'ज्योत्स्ना' लिख चुके हैं। क्या हम आशा करें कि कविता की भाँति हमारे एकाकी नाटक में भी वह कुछ नयी बात ला देंगे? श्री भगवतीचरण वर्मा की कहानियों पर नाट्य-पद्धति की काफ़ी छाप है; चित्रपट के व्यक्तिगत अनुभव से भी आप इधर आकर्षित हुए होंगे। आपने सफल एकाकी लिखे भी हैं।

शायद स्वतः ही ये शक्तियाँ रंग-मंच की परिधि में खिच आयें। यदि

लोकमत और साहित्यिक रुचि में बल है, तो नाटक का भण्डार भी पूरा हो जायगा। विश्वविद्यालयों में और बाहर भी तरुण वर्ग रंग-मंच की ओर झुक रहा है। यदि हममें स्वयं प्राण हैं, तो हमारे साहित्य का कोई अंग कैसे और कब तक निष्प्राण रह सकता है?

प्रेमचन्द : कहानीकार

(१)

कहानी का जन्म पूर्व में हुआ। आजकल भी सिन्दबाद और अलादीन अथवा हितोपदेश की कहानियों से हमारा मनोरंजन होता है। परन्तु आधुनिक साहित्यिक गल्प कई शताब्दियों तक पश्चिम में निवास कर अब पूर्व को लौटी है। सेन्ट्सबरी के कथनानुसार कहानी के चार अंश होते हैं: कथानक (Plot), चरित्र-चित्रण (Character), वार्ता (Dialogue) और वर्णन अथवा वातावरण (Description)। पश्चिम के, विशेषकर इङ्गलैण्ड के, कहानीकारों का कथानक अनाकर्षक होता है। चरित्र-चित्रण ही उनका सफल होता है।

यह स्वाभाविक-सी बात मालूम होती है कि पूर्व में फिर उत्कृष्ट कहानी-लेखकों का जन्म हो; क्योंकि इस कला में पूर्व सदा से निपुण रहा है। केवल कहानी का रूप बदल गया है।

प्रेमचन्द ने 'मानसरोवर' के 'प्राक्कथन' में लिखा है—'सबसे उत्तम कहानी वह होती है, जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो।' 'प्रेम द्वादशी' की भूमिका में आपने लिखा है—'वर्तमान आख्यायिका का मुख्य उद्देश्य साहित्यिक रसास्वादन कराना है, और जो कहानी इस उद्देश्य से जितनी दूर जा गिरती है, उतनी ही दूषित समझी जाती है।' प्रेमचन्द का विशेष महत्त्व यह है कि अपने उपन्यास और कहानियों में उन्होंने भारत की आत्मा को सुरक्षित रक्खा है।

अनुभूति और पीड़ा है, उसकी समता प्रेमचन्द नहीं कर पाते। परन्तु प्रेम-चन्द की रचना में अपने अनेक गुण हैं, जो और कहीं नहीं मिलते। ग्रामीण कृषकों का हृदय कौन इतनी अच्छी तरह जानता है? किसने इतनी तपस्या से ग्राम्य-जग को पहचाना है? 'पंच-परमेश्वर' के अतिरिक्त हिन्दू-मुस्लिम एकता का ऐसा भावपूर्ण चित्रण और कहाँ मिलेगा?

ग्राम्य-जग का चित्र खींचते हुए आप कहते हैं—'वहाँ आम के वृक्षों के नीचे किसानों की गाढ़ी कमाई के सुनहरे ढेर लगे हुए थे। चारों ओर भूसे की आँधी-सी उड़ रही थी। बैल अनाज दाँते थे; और जब चाहते भूसे में मुँह डालकर अनाज का एक गाल खा लेते थे। गाँव के बढ़ई और चमार, धोबी और कुम्हार अपना वार्षिक कर उगाहने के लिए जमा थे। एक ओर नट ढोल बजाकर अपने कर्तब दिखा रहा था। कवीश्वर महाराज की अतुल काव्य-शक्ति आज उमङ्ग पर थी।'

—'उपदेश', 'सप्त-सरोज।'

इस संग्रह में दो कहानियाँ तो बड़ी ही उच्चकोटि की हैं :—'बड़े घर की बेटी' और 'पंच-परमेश्वर'। किसी भी साहित्य को ऐसी रचनाओं पर गर्व हो सकता है।

'बड़े घर की बेटी' छोटे-से गाँव में आई, जहाँ वह रेशमी स्लीपर न पहन सकती थी, जहाँ नाम के लिए कोई सवारी भी न थी। न ज़मीन पर फ़र्श, न दीवारों पर चित्र। फिर भी उसने यहाँ की गृहस्थी सम्हाल ली। एक बार खाना बनाते समय देवर से कहा-सुनी हो गई और उसने आनन्दी को खड़ाऊँ खींच मारा। वह बहुत रोई। उसके पति भी झल्लाये। घर से अलग होने की नौबत आ गई। अब उसका देवर भी पछता रहा था और आँसू बहा रहा था। आनन्दी पिघली। उसने बीच-बचाव कर शान्ति करवा दी।

मानव स्वभाव का यह बड़ा मार्मिक और सुन्दर चित्र है। प्रेमचन्द की रचनाओं को पढ़कर मनुष्य पर हमारी श्रद्धा बढ़ जाती है। उनमें

उनकी रचनाओं का स्मरण करते ही भारत के ग्राम, यहाँ का कृषक-वर्ग, उच्च-कुल की ललनाएँ, आम और करौंदे के पेड़, यहाँ के पशु-पक्षी स्मृति-पट पर घूम जाते हैं। आपकी रचनाएँ पढ़कर देश के मनुष्य और आदर्श हमारी दृष्टि में ऊपर उठ जाते हैं।

प्रेमचन्द और सुदर्शन दोनों ही पहले उर्दू में लिखते थे। 'सप्त-सरोज' और 'सेवासदन' का उपहार देकर प्रेमचन्द ने हिन्दी-साहित्य में प्रवेश किया। इन रचनाओं में जो रस, अनुभूति और प्रतिभा है, उसके आगे प्रेमचन्द भी न बढ़ सके।

उपन्यास और गल्प भिन्न कला हैं। यह आवश्यक नहीं कि सफल उपन्यासकार अच्छा गल्प-लेखक भी हो। उपन्यास में जीवन का दिग्दर्शन होता है, गल्प में केवल एक झाँकी मात्र होती है। मानव-चरित्र के किसी एक पहलू पर प्रकाश डालने को, किसी घटना या वातावरण की सृष्टि के लिए कहानी लिखी जाती है। जीवन के सभी अंगों पर या मानव-चरित्र की सभी जटिलताओं पर कहानी प्रकाश नहीं डाल सकती। प्रेमचन्द लिखते हैं—'कहानी में बहुत विस्तृत विश्लेषण की गुंजायश नहीं होती। यहाँ हमारा उद्देश्य संपूर्ण मनुष्य को चित्रित करना नहीं, वरन् उसके चरित्र का एक अंग दिखाना है।'

प्रेमचन्द सफल उपन्यासकार और गल्प-लेखक थे। इस लेख में हम उनकी कहानी-कला पर कुछ विचार करेंगे।

(२)

'सप्त-सरोज' प्रेमचन्द का पहला कहानी संग्रह है। इसके विषय में शरद् बाबू ने यह सम्मति दी थी—'गल्पें सचमुच बहुत उत्तम और भावपूर्ण हैं। रवीन्द्र बाबू के साथ इनकी तुलना करना अन्याय और अनुचित साहस है। पर और कोई भी बँगला लेखक इतनी अच्छी गल्पें लिख सकता है या नहीं इसमें सन्देह है।'

रवि बाबू की भाषा में जो माधुरी और रस है, उनकी रचना में जो

अनुभूति और पीड़ा है, उसकी समता प्रेमचन्द नहीं कर पाते। परन्तु प्रेमचन्द की रचना में अपने अनेक गुण हैं, जो और कहीं नहीं मिलते। ग्रामीण कृषकों का हृदय कौन इतनी अच्छी तरह जानता है? किसने इतनी तपस्या से ग्राम्य-जग को पहचाना है? 'पंच-परमेश्वर' के अतिरिक्त हिन्दू-मुस्लिम एकता का ऐसा भावपूर्ण चित्रण और कहाँ मिलेगा?

ग्राम्य-जग का चित्र खींचते हुए आप कहते हैं—'वहाँ आम के वृक्षों के नीचे किसानों की गाढ़ी कमाई के सुनहरे ढेर लगे हुए थे। चारों ओर भूसे की आँधी-सी उड़ रही थी। बैल अनाज दौंते थे; और जब चाहते भूसे में मुँह डालकर अनाज का एक गाल खा लेते थे। गाँव के बढ़ई और चमार, धोबी और कुम्हार अपना वार्षिक कर उगाहने के लिए जमा थे। एक ओर नट ढोल बजाकर अपने कर्तब दिखा रहा था। कवीश्वर महाराज की अतुल काव्य-शक्ति आज उमङ्ग पर थी।'

—'उपदेश', 'सप्त-सरोज।'

इस संग्रह में दो कहानियाँ तो बड़ी ही उच्चकोटि की हैं :—'बड़े घर की बेटी' और 'पंच-परमेश्वर'। किसी भी साहित्य को ऐसी रचनाओं पर गर्व हो सकता है।

'बड़े घर की बेटी' छोटे-से गाँव में आई, जहाँ वह रेशमी स्लीपर न पहन सकती थी, जहाँ नाम के लिए कोई सवारी भी न थी। न ज़मीन पर फ़र्श, न दीवारों पर चित्र। फिर भी उसने यहाँ की गृहस्थी सम्हाल ली। एक बार खाना बनाते समय देवर से कहा-सुनी हो गई और उसने आनन्दी को खड़ाऊँ खींच मारा। वह बहुत रोई। उसके पति भी झल्लाये। घर से अलग होने की नौबत आ गई। अब उसका देवर भी पछता रहा था और आँसू बहा रहा था। आनन्दी पिघली। उसने बीच-बचाव कर शान्ति करवा दी।

मानव स्वभाव का यह बड़ा मार्मिक और सुन्दर चित्र है। प्रेमचन्द की रचनाओं को पढ़कर मनुष्य पर हमारी श्रद्धा बढ़ जाती है। उनमें

वास्तविकता और आदर्शवाद का सुन्दर सम्मिश्रण रहता है। हम यह कभी नहीं सोचते कि यह चरित्र कल्पना-जग के हैं। उनके वर्णन में वास्तविकता होती है, किन्तु उनका दृष्टिकोण आदर्शवादी रहता है।

जो कथा-शैली प्रेमचन्द ने यहाँ अपनाई, उसको अन्त तक निभाया। 'बड़े घर की बेटी' एक हद तक कठोर होती चली जाती है, फिर अत्यन्त नम्र हो जाती है। जैसे लोहे की पत्ती जितने ज़ोर से खींची जायगी, उतनी ही शक्ति से वह उलटेगी, या धनुष की प्रत्यञ्चा जितनी ही खींची जायगी, उतनी ही दूर वह बाण को फेंकेगी। उनकी इस शैली को गणित की रेखाओं से समझ सकते हैं। एक हद तक कथा का चढ़ाव होता है; फिर उतार होता है।

इसी प्रकार 'पंच परमेश्वर' भी एक हद तक गिरते हैं, फिर सँभल जाते हैं। पिछले वर्षों की लिखी हुई कहानियों के संग्रह 'मानसरोवर' में भी इस शैली की अनेक गल्पें मिलती हैं।

प्रेमचन्द में सच्चे साहित्यकार की सब अनुभूतियाँ थीं। मनुष्य-स्वभाव पर उन्हें श्रद्धा थी। कसौटी पर चढ़कर मनुष्य खरा ही उतरता है। उदाहरणार्थ, कुछ बाद की लिखी कहानी 'ईश्वरीय न्याय।'

उनकी भाषा ग्रामीण-जीवन-सी ही सीधी-सादी है। उनकी उपमाएँ दैनिक जीवन से ली गई हैं। 'जिस तरह सूखी लकड़ी जल्दी से जल उठती है, उसी तरह क्षुधा से बावला मनुष्य ज़रा-ज़रा-सी बात पर तिनक उठता है।' (बड़े घर की बेटी) 'अब इस घर से गोदावरी का स्नेह उस पुरानी रस्सी की तरह था जो बार-बार गाँठ देने पर कहीं-न-कहीं से टूट ही जाती है।' (सौत)।

भाषा मुहावरेदार काफ़ी है। 'पहले घर में दिया जलाते हैं, फिर मस्जिद में।' कहीं-कहीं पर बड़ा कोमल व्यंग है। 'इञ्जिनियरों का ठेकेदारों से कुछ वैसा ही संबंध है जैसा मधुमक्खियों का फूलों से। यह मधुरस कमीशन कहलाता है। कमीशन और रिश्वत में बड़ा अन्तर है। रिश्वत

लोक और परलोक दोनों ही का सर्वनाश कर देती हैं। उसमें भय है, चोरी है, बदनामी है। मगर कमीशन एक मनोहर वाटिका है, जहाँ न मनुष्य का डर है, न परमात्मा का भय....।' (सज्जनता का दण्ड)।

'सप्त-सरोज' में प्रेमचन्द की कहानी-कला का जो रूप बना, वह अन्त तक बना रहा। इधर कुछ उसमें परिवर्तन होने लगा था, किन्तु अनेक वर्षों तक उनकी कथा के पात्र ऐसे ही वातावरण में, ऐसे ही स्वरूप से भ्रमण करते रहे।

(३)

'नव-निधि' में बहुत करके ऐतिहासिक कहानियाँ हैं। कहानियाँ सभी मनोरंजक हैं। किन्तु प्रेमचन्द की गल्प-कला इन कहानियों में उतनी उच्च कोटि की नहीं। कथानक के उतार-चढ़ाव में और चरित्र-चित्रण में लेखक की कल्पना को उतनी स्वतन्त्रता नहीं। प्रेमचन्द की कहानी-कला का एक विशेष गुण कथानक-गुम्फन है। कसीदे के समान घटना का जाल उनकी कल्पना बनाती है। किन्तु 'नव-निधि' में उनकी कल्पना बँध-सी गई है।

ऐतिहासिक कहानी की नस्ल खच्चर के समान है। न वह इतिहास है, न सफल कहानी ही। लेस्ली स्टीफेन (Leslie Stephen) ने उसे वर्ण-संकर (Hybrid) बताया है। ऐतिहासिक कहानी तब सफल होती है, जब ऐतिहासिक वातावरण में कल्पना के चरित्र विचरें। ऐतिहासिक चरित्रों को लेकर कहानीकार अपनी सब स्वतन्त्रता खो देता है। 'नव-निधि' में 'धोखा' नाम की कहानी सुन्दर है। शायद इसके पात्र और इसका कथानक कल्पित हैं।

'नव-निधि' की पिछली तीन गल्पें 'अमावस्या की रात्रि', 'ममता' और 'पछतावा' प्रतिभापूर्ण हैं। इनमें प्रेमचन्द की स्वाभाविक कहानीकला का चमत्कार है। जो शैली उन्होंने 'सप्तसरोज' में अपनाई थी, उसी को सफलतापूर्वक निबाहा है। इसमें मनुष्य के हृदय की, उसके भावों की अच्छी सूझ है।

यह ऐतिहासिक कहानियाँ अधिकतर मुग़ल साम्राज्य के मध्याह्नकाल की हैं। पहली दो कहानियाँ 'राजा हरदौल' और 'रानी सारन्धा' बुन्देलों की वीरता और आन का चित्रण हैं। इन कहानियों को पढ़कर मन में राजपूताने की वीर-कथाएँ हरी हो जाती हैं।

'प्रेम-पूर्णिमा' में प्रेमचन्द की कहानी-कला में कुछ विकास न हुआ। अधिकतर कहानी सुगठित हैं और 'सप्त-सरोज' के पथ पर चली हैं। 'ईश्वरीय न्याय', 'शंखनाद', 'दुर्गा का मन्दिर', 'बेटी का धन', आदि कहानी 'पंच-परमेश्वर' और 'बड़े घर की बेटी' जैसी उत्कृष्ट कहानियों से टक्कर लेती हैं। 'शङ्खनाद' और 'दुर्गा का मन्दिर' तो प्रेमचन्दजी ने अपने 'प्रेम-द्वादशी' नामक बारह सर्वोत्तम कहानियों के संग्रह में भी रक्खी है।

सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर 'सप्त-सरोज' और 'प्रेमपूर्णिमा' के बीच उनकी कला का कुछ ह्रास ही हुआ। अधिकतर कहानियाँ पुरानी लिखी हुई जान पड़ती हैं, अथवा यह हो सकता है कि उनकी कला एक परिपाटी को अपनाकर विकसित न हो सकी।

प्रेमचन्द का विशेष गुण उनका मनोविज्ञान है। हृदय के सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव समझने में वे निपुण हैं। 'ईश्वरीय न्याय', 'दुर्गा का मन्दिर', 'बेटी का धन' आदि गल्पें इसी गुण के कारण सफल हैं।

जहाँ ग्राम्य-जग की ओर प्रेमचन्द ने मुख मोड़ा है, वहाँ उन्होंने आशातीत सफलता पाई है। 'शंखनाद' नाम की कहानी में ग्राम्य-जीवन का विशद वर्णन है। पात्रों के नामों तक में ग्रामीणता भरी है। उनके नामों से हमें काफ़ी सन्तोष मिलता है—भानु चौधरी के लड़के वितान, शान और गुमान चौधरी, मिठाई बेचनेवाला गुरदीन; गुमान चौधरी का लड़का धान। गुमान के व्यसन—मुहर्रम में ढोल बजाना, मछली फँसाना, दंगल में भाग लेना। इस ग्राम्य-जीवन के चित्रण में अवश्य ही दैवी शक्ति है।

किन्तु बार-बार हमारे मन में उठता है कि प्रेमचन्द मध्य-वर्ग के मनुष्यों को नहीं पहचानते, विशेषकर नगर के मध्य-वर्ग को। न इनसे प्रेम-

चन्द को कुछ सहाभूति ही है। जिस प्रकार ग्राम में इतनी पीड़ा होते हुए भी ग्रामीण के हृदय में उदारता है, उसी तरह अनेक नागरिक भी हृदय में व्यथा छिपाये पड़े हैं। रवि बाबू इन्हें खूब पहचानते थे।

प्रेमचन्द की विशेष अकृपा उन व्यक्तियों पर है जो पश्चिम की संस्कृति के दास हो चुके हैं। ऐसे मनुष्यों को धर्म और नीति का ज्ञान नहीं। 'धर्म-संकट' नाम की कहानी में कामिनी को अच्छी-भली अ-सती बना दिया है। जब देश में अपनी प्राचीन संस्कृति के प्रति अनुराग बढ़ रहा है, तब ऐसा दृष्टिकोण स्वाभाविक था।

परन्तु कलाकार का एक विशेष उत्तरदायित्व होता है। कला धर्म के आडम्बर से परे है। वह नैतिकता का ऊँचा, उठता रूप हमें दिखाती है। 'प्रेम-पूर्णिमा' की कुछ कहानियों से हमें ऐसा भासित हुआ कि यदा-कदा उनकी कला धर्म आदि के आडम्बर से दब गई है। 'सेवा-मार्ग', 'शिकारी राजकुमार' और 'ज्वालामुखी' कुछ इसी प्रकार की कहानियाँ हैं।

कहानी के इतिहास में नैतिक कथा का स्थान बहुत नीचा है। 'हितोपदेश' और 'ईसप' की कथाएँ बच्चे ही अधिक चाव से पढ़ते हैं।

कभी-कभी तो ईसप की कथाओं के उपदेशों की भाँति प्रेमचन्द भी अपनी कहानियों का अन्त मोटे अक्षरों में छापते हैं। 'यही ईश्वरीय न्याय है'; 'यह सचाई का उपहार है'; 'यही महातीर्थ है' आदि। हिन्दी के सौभाग्य से प्रेमचन्द की कला का यह रूप अस्थिर रहा।

'प्रेम-पचीसी' नाम के संग्रह में प्रेमचन्द की कला में कुछ नये अणु दीखे। इन कहानियों के लिखने के समय सत्याग्रह का बवंडर चल रहा था। प्रेमचन्द के व्यक्तित्व का एक मनोहर अंश उनकी देश-भक्ति है। अपनी कला से जो कुछ देश की सेवा वह कर सके, उन्होंने की। 'सुहाग की साड़ी', 'दुस्साहस' आदि राजनीतिक रंग लिये कहानियाँ हैं। 'आदर्श-विरोध' और 'पशु से मनुष्य' भी इसी गहन समस्या पर विचार हैं। स्वाधीनता आन्दोलन का सुन्दर रूप चित्र-कला में कनु देसाई ने दिखाया।

प्रेमचन्द की कला को भी हम इस देश-व्यापी संग्राम से अलग नहीं कर सकते।

'मूढ़' और 'नाग पूजा' में ऐसा लगता है कि शायद प्रेमचन्द जादू आदि पर विश्वास करते हों। मानो जीवन में इतने रहस्य भरे पड़े हैं कि मनुष्य की बुद्धि चकरा जाती है।

प्रेमचन्द पशु-जीवन से भी भली-भाँति परिचित हैं। 'स्वत्वरक्षा' एक घोड़े के चरित्र का दर्शन है। 'पूर्व-संस्कार' में जवाहर नाम के बैल का अच्छा वर्णन है। उनकी कहानियों में ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे।

'दफ्तरी', 'बौड़म', 'विध्वंस', आदि सूक्ष्म चरित्र-चित्र हैं। इस कला में प्रेमचन्द ख़ूब दक्ष हैं। यदि ऐसे चरित्र एकत्रित किये जायँ, तो शायद ही जीवन का कोई अंग इनसे अछूता पाया जाय। 'प्रेम-पचीसी' की सर्वोत्तम कहानियों में 'बूढ़ी काकी' अवश्य गिनी जायगी। यह कहानी बड़ी सच्ची और मर्मवेधी है। 'लोकमत का सम्मान' उनकी अच्छी कहानियों से टक्कर ले सकती है।

किन्तु प्रेमचन्द को शायद 'आत्माराम' अधिक भाती थी। इसे उन्होंने 'प्रेम-द्वादशी' में भी स्थान दिया है। कहानी मनोरंजक है। किन्तु इसकी विशेषता घटना-प्राधान्य है।

इस संग्रह में प्रेमचन्द का अपनी कला पर पूर्ण अधिकार है। कहानियों में एक प्रकार की सरलता-सी है। किन्तु जिस आशा को लेकर हम 'सप्त-सरोज' छोड़कर उठे थे, वह अभी पूर्ण नहीं हुई।

'प्रेम प्रतिमा' नाम के संग्रह में प्रेमचन्द ने उस आशा को पूरा किया।

(४)

'प्रेम-प्रतिमा' की कहानियाँ हिन्दी के उस जाग्रति-काल की हैं, जब 'माधुरी' के प्रकाशन ने हिन्दी में नव-जीवन-संचार किया था। इन कहानियों में प्रौढ़ता, रस, विनोद सभी हैं।

'मुक्ति-धन', 'डिग्री के रुपये', 'दीक्षा', 'शतरंज के खिलाड़ी' आदि

कहानियाँ उनकी कला के सर्वोच्च शिखर हैं। इन कहानियों को पढ़कर ऐसा लगता है कि यह प्रेमचन्द के कला-जीवन का मधु-मास था। इन कहानियों में विचित्र स्फूर्ति और हृदय की उमङ्ग है।

'बूढ़ी काकी' में विनोद की झलक है; हृदय की व्यथा भी है। इस संग्रह में अनेक कहानियाँ ऐसी हैं, जिनमें निरा विनोद-भाव है।

'मनुष्य का परम धर्म', 'गुरु मन्त्र', 'सत्याग्रह' आदि इसी प्रकार की कहानियाँ हैं। इनमें हिन्दुओं के पूज्य पण्डों का अच्छा ख़ाका खींचा गया है।

इस संग्रह में प्रेमचन्द की भाषा भी ख़ूब निखर गई है। मदिरा का वर्णन देखिए, 'सफ़ेद बिल्लौर के गिलास में बर्फ़ और सोडावाटर से अलंकृत अरुण-मुखी कामिनी शोभायमान थी।' (दीक्षा) और देखिए—'उषा की लालिमा में, ज्योत्स्ना की मनोहर छटा में, खिले हुए गुलाब के ऊपर सूर्य की किरणों से चमकते हुए तुषार-बिन्दु में भी वह सुषमा और शोभा न थी, श्वेत-हिम-मुकुटधारी पर्वतों में भी वह प्राण-प्रद शीतलता न थी, जो बिन्नी अर्थात् विन्ध्येश्वरी के विशाल नेत्रों में थी।' (भूत)

इस संग्रह की अनेक कहानियाँ मुस्लिम संस्कृति के चित्र हैं—'क्षमा', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'वज्रपात', 'लैला'। प्रेमचन्द की शैली इस विषय के सर्वथा अनुकूल है। कुछ उर्दू साहित्य के संबन्ध से, कुछ स्वाधीनता आन्दोलन के हिन्दू मुसलिम एकता के पाठ से प्रेमचन्द मुसलिम संस्कृति को बड़े आदर की दृष्टि से देखते हैं।

'शतरंज के खिलाड़ी' बड़े ऊँचे दर्जे की कहानी है। इसमें लखनऊ के नवाबी राज्य का सन्ध्या-काल दिखाया गया है। लेखनी में वही ओज और मार्मिकता है, जो हम हसन निज़ामी की पुस्तक 'मुग़लों के अन्तिम दिन' में देखते हैं :—'वाजिदअली शाह का समय था। लखनऊ विलासिता के रङ्ग में डूबा हुआ था। छोटे-बड़े, अमीर-ग़रीब सभी विलासिता में डूबे हुए थे। कोई नृत्य और गान की मजलिस सजाता था, तो कोई

अफ़ीम की पीनक ही के मज़े लेता था। जीवन के प्रत्येक विभाग में आमोद-प्रमोद का प्राधान्य था। शासन-विभाग में, साहित्य-क्षेत्र में, सामाजिक व्यवस्था में, कला-कौशल में, उद्योग-धन्धों में, आहार-व्यवहार में, सर्वत्र विलासिता व्याप्त हो रही थी। राज-कर्मचारी विषय-वासना में, कविगण प्रेम और विरह के वर्णन में, कारीगर कलाबत्तू और चिकन बनाने में, व्यवसायी सुरमे, इत्र, मिसरी और उबटन का रोज़गार करने में लिप्त थे। सभी की आँखों में विलासिता का मद छाया था। संसार में क्या हो रहा है, इसकी किसी को ख़बर न थी। बटेर लड़ रहे हैं; तीतरों की लड़ाई के लिए पाली बदी जा रही है। कहीं चौसर बिछी हुई है; पौ-बारह का शोर मचा हुआ है। कहीं शतरंज का घोर संग्राम छिड़ा हुआ है। राजा से लेकर रंक तक इसी धुन में मस्त थे। यहाँ तक कि फ़क़ीरों को पैसे मिलते तो वे रोटियाँ न लेकर अफ़ीम खाते या मदक पीते। शतरंज, ताश, गँजीफा खेलने से बुद्धि तीव्र होती है, विचार-शक्ति का विकास होता है, पेचीदा मसलों को सुलझाने की आदत पड़ती है। ये दलीलें ज़ोरों के साथ पेश की जाती थीं।'

'बाबाजी का भोग', 'मनुष्य का परम धर्म' और 'गुरु-मन्त्र' प्रेमचन्द की शैली में भारी परिवर्तन की द्योतक हैं। इनमें भावों के उतार-चढ़ाव, घटना-चक्र-व्यूह, मनोवैज्ञानिक गुत्थियाँ आदि कुछ नहीं। यह जीवन की केवल झाँकी मात्र हैं। निबन्ध या स्केच से इनका निकट संबन्ध है। इन्हें अँग्रेजी में Slices from life—जीवन के टुकड़े—कहते हैं। जैनेन्द्रजी ने इसी कला को अपनाया है। कभी-कभी तो यह कहानी निबन्ध मात्र होती है। इसका न कुछ आदि है, न अन्त है। केवल वास्तविक जीवन का एक टुकड़ा काटकर आपके सामने रख दिया गया है।

'मानसरोवर' में इस नवीन शैली की कहानियाँ यथेष्ट संख्या में हैं: 'मुफ़्त का यश', 'बड़े भाई साहब', 'गृह-नीति', 'ठाकुर का कुआँ', 'झाँकी', 'आख़िरी हीला', 'गिला' इत्यादि। इन कहानियों का अन्त बड़ा स्वाभा-

विक है। जीवन में मृत्यु, आत्म-हत्या आदि ही नाटक का-सा अन्त नहीं होते। पहली कहानियों में प्रेमचन्द ऐसा अन्त बहुधा पसन्द करते थे।

'मानसरोवर' के प्राक्कथन में प्रेमचन्द ने कहा है, 'अब हिन्दी गल्प-लेखकों में विषय और दृष्टिकोण और शैली का अलग-अलग विकास होने लगा है। कहानी जीवन के बहुत निकट आ गई हैं। उसकी ज़मीन अब उतनी लम्बी-चौड़ी नहीं है। उसमें कई रसों, कई चरित्रों और कई घटनाओं के लिए अब स्थान नहीं रहा। वह अब केवल एक प्रसंग का, आत्मा की एक झलक का, सजीव, स्पर्शी चित्रण है।........'

इस शैली का कहानियों में 'गिला' बड़ी सुन्दर है। यह चरित्र की झाँकी है।

यह स्पष्ट है कि 'मानसरोवर' के रचना-काल में प्रेमचन्द अपनी कला के एक-छत्र अधिपति थे। 'गो-दान' से यह भावना और भी दृढ़ हो जाती है। 'अलग्योझा', 'ईदगाह' आदि कहानी उनकी कला के शिखर पर हैं। यह लगभग उसी कोटि की हैं, जिसमें शरत् बाबू की कहानी 'बिन्दो का लड़का' है; वही स्वाभाविकता, वही सरलता, कथा में वही प्रवाह—यहाँ भी हम पाते हैं।

हिन्दी के दुर्भाग्य से जब प्रेमचन्द की कला इतनी परिपक्व, उनकी शैली इतनी प्रौढ़ और उनकी भाषा इतनी रसमय हो गई थी, उनका निधन हो गया।

(५)

कलाकार अपने स्वतन्त्र जग की सृष्टि करता है। एक क्षण के लिए प्रेमचन्द के निर्मित संसार को देखिए।

यहाँ कृषक-वृन्द ऋण और कष्ट से मुक्त, सुखी और स्वतन्त्र हैं। पूस की रात में वह आग के सामने तापते हुए पूर्वजन्म की कथा कहते हैं, और सुख के गाने गाते हैं। जमींदारों का और सरकारी कर्मचारियों

का मान-मर्दन हो चुका। वह किसी अतीत काल की कथा के समान मिथ्या और दूर है। यह राम-राज्य का पुनरागमन है।

मध्यवर्ग उदार, दयापूर्ण और सुसंस्कृत है। इनके जीवन पर भारत की प्राचीन संस्कृति की छाप है। यहाँ भारत की आत्मा भारतीय कलेवर में दीखेगी। पश्चिम के भौतिक रंग का यहाँ नाम-निशान भी नहीं।

यदि इस संसार में कोई रईस है, तो बिड़ला-बन्धुओं की भाँति दानी और दयालु है।

इस जग में कोई झगड़ा, कलह और अशान्ति नहीं। यहाँ हिन्दू और मुस्लिम एक दूसरे की संस्कृति को स्नेह और आदर की दृष्टि से देखते हैं।

यहाँ आपको सब प्रकार के जीव मिलेंगे। दफ़्तरी, धोबी, बोड़म, ओझे, किसान, कहार, चमार; किन्तु सब नीयत के साफ़ और हृदय के उदार हैं।

मुस्लिम संस्कृति के यहाँ आपको बड़े उच्च आदर्श दीखेंगे। किस प्रकार दाऊद ने अपने पुत्र की हत्या करनेवाले को क्षमा कर दिया, तैमूर का पाषाण हृदय कैसे हमीदा के विचारों से पिघला, लैला के संगीत से किस प्रकार फ़ारस का राजकुमार मोहित होकर फ़क़ीर हो गया : यह सब हमें यहाँ अंकित मिलेगा।

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने प्रेमचन्द को मूक जनता का प्रतिनिधि कहा है। प्रेमचन्द का क्षेत्र ग्रामीण-जग और किसानों का हृदय है। यहाँ वे अद्वितीय हैं। किन्तु मध्य और कुलीन वर्ग के भावों की जिस गहराई में रवि बाबू अथवा शरत् बाबू पैठते हैं, वह प्रेमचन्द का क्षेत्र था ही नहीं।

मनुष्य में प्रेमचन्द का अटल विश्वास है। अपने संसार में अनेक उदार-चित्त मनुष्यों को उन्होंने बसाया है। अवसर पड़ने पर यह सब बहुत ऊँचे उठ जाते हैं। 'बड़े घर की बेटी', या 'पंच-परमेश्वर' अवसर आने पर कोई नीचा नहीं रहता।

इस प्रकार के चित्रण के लिये स्वयं अपने पास विशाल हृदय होना चाहिए। यही प्रेमचन्द की सबसे बड़ी विभूति है।

कामायनी

'प्रसाद' की 'कामायनी' हिन्दी के अमर काव्य-ग्रन्थों में अपना आसन लेगी, यह बात उसे एक बार पढ़ते ही मन में उठती है।

'कामायनी' में 'तितली' और 'कामना' से भी रुपहला स्वरूप लेकर उनकी कल्पना प्रकट हुई है। 'प्रसाद' जी उच्च-कोटि के कवि हैं; गल्प-कार, उपन्यासकार अथवा नाटककार उसी श्रेणी के नहीं; उनके नाटकों अथवा कहानियों का विशेष आकर्षण उनकी काव्यमय कल्पना है। 'कामायनी' में उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा पूर्ण रूप से प्रस्फुटित हुई है। यहाँ गीति और प्रबन्ध-काव्य का अद्भुत सम्मिश्रण हुआ है।

'कामायनी' का विषय आदि-पुरुष मनु और मानव-इतिहास की प्राचीनतम घटना जल-प्लावन की प्रलय है। 'साकेत' और 'प्रिय-प्रवास' की कथा से भी ऊँचा यह कथानक उठता है। यहाँ मनुष्य के निगूढ़तम भावों की गुत्थियाँ तो नहीं, किन्तु विश्व-सृजन का झिलमिल अरुणोदय और आदिम युग का इतिहास अवश्य मिलेगा। Dante की Divine Comedy और Milton के Paradise Lost के समान ही 'कामायिनी" का कथानक-गौरव है।

इस कथानक के कुछ अंश ऋग्वेद, छान्दोग्य उपनिषद्, शतपथ ब्राह्मण आदि से लिये गये हैं। कथा-शृङ्खला मिलाने के लिए कवि ने स्वतन्त्र कल्पना का भी यथेष्ट प्रयोग किया है। मनु ने श्रद्धा के सहयोग से देवों से भी विलक्षण एक नवीन संस्कृति का अनुष्ठान किया। मनु इति-हास के पहले विप्लववादी थे। जीवन से असन्तुष्ट होकर वह कहते हैं :

'देव न थे हम और न ये हैं,
सब परिवर्तन के पुतले;
हाँ—कि गर्व-रथ में तुरङ्ग-सा;
जितना जो चाहे जुत ले।'

इड़ा के प्रभाव से मनु ने बुद्धिवाद का आश्रय लिया और राज्य-स्थापना की; किन्तु अधिक सुख की खोज में दुःख ही मिला :

'इड़ा डालती थी वह आसव जिसकी बुझती प्यास नहीं'

अथवा

'देश बसाया पर उजड़ा है सूना मानस देश यहाँ।'

कथा में एक प्रकार के रूपक का भी आभास मिलता है। श्रद्धा और बुद्धि के सहयोग से मानवता का विकास हुआ। बुद्धि के विकास से मानव ने नवीन पथों पर सुख की खोज की। फिर भी वह पूछता है :

'तो फिर क्या मैं जिऊँ और भी,
जीकर क्या मरना होगा ?
देव ! बता दो, अमरवेदना
लेकर कब मरना होगा ?'

कथानक का प्रवाह पहले सर्गों में धीमा है। जैसे 'चिन्ता', 'आशा', 'काम', 'लज्जा' आदि स्वतन्त्र गीत-काव्यों की रचना कवि ने की हो। इन छन्दों को बार-बार और फिर-फिर पढ़ने की इच्छा होती है :

'ओ चिन्ता की पहली रेखा,
अरी विश्व-वन की व्याली;
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण,
प्रथम कंप-सी मतवाली !'

किन्तु पिछले भाग में कथा का स्रोत फूट निकला है, और कथानक की गति तीव्र हो गई है। छन्द-परिवर्तन आदि से और सजग कल्पना से 'प्रसाद'जी ने कथा को कभी नीरस नहीं होने दिया।

'कामायनी' में तीन-चरित्र-चित्र हैं, मनु, श्रद्धा और इड़ा। मनु के चरित्र में भारी हलचल हैं; उनकी वाणी में बहुधा 'प्रसाद' की वाणी प्रतिध्वनित हुई है। मनुष्य-मात्र के वह प्रतिनिधि हैं। श्रद्धा के चित्रण में सबसे अधिक अनुभूति है। इड़ा के चरित्र की रेखाएँ सुस्पष्ट हैं, यद्यपि उनमें अधिक रङ्ग नहीं भी भरा गया।

मनु कहते हैं :

'तुम कहती हो विश्व एक लय है, मैं उसमें
लीन हो चलूँ? किन्तु धरा है क्या सुख इसमें?
क्रन्दन का निज अलग एक आकाश बना लूँ,
उस रोदन में अट्टहास हो तुमको पालूँ।
फिर से जलनिधि उछल बहे मर्यादा बाहर!
फिर झंझावत हो वज्र प्रगति से भीतर-बाहर!
फिर डगमग हो नाव लहर ऊपर से भागे!
रवि-शशि-तारा सावधान हों, चौंकें, जागें।'

आदिपुरुष के चरित्र में जिस गांभीर्य और शान्ति की आशा की जा सकती है, वह यहाँ नहीं। मनु वास्तव में आधुनिक मानव के ही प्रतिनिधि हैं। उन्होंने बुद्धिबल से नवीन संस्कृति निर्मित की, किन्तु उन्हें शान्ति और सुख नहीं मिला।

श्रद्धा के चित्र में उन्होंने सुन्दर रङ्ग भरे हैं :

'मसृण गांधार देश के नील
रोम वाले मेवों के चर्म
ढाँक रहे थे उसका वपु कान्त
बन रहा था वह कोमल वर्म।'

'नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग;

खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ-वन बीच गुलाबी रंग।'
'आह ! वह मुख ! पश्चिम के व्योम—
बीच जब घिरते हों घनश्याम;
अरुण रवि-मंडल उनको भेद
दिखाई देता हो छवि धाम।'

श्रद्धा कहती है :

'यह आज समझ तो पाई हूँ
मैं दुर्बलता में नारी हूँ
अवयव की सुन्दर कोमलता
लेकर मैं सबसे हारी हूँ।'

इड़ा मनु को बुद्धिवाद की ओर अग्रसर करती है :

'हाँ तुम ही हो अपने सहाय ?
जो बुद्धि कहे उसको न मानकर फिर किसकी नर शरण जाय,
जितने विचार संस्कार रहे उनका न दूसरा है उपाय,
यह प्रकृति परम रमणीय अखिल ऐश्वर्य भरी शोधक विहीन
तुम उसका पटल खोलने में परिकर कसकर बन कर्मलीन !'

श्रद्धा में एक प्रकार की कोमलता है; इसके विपरीत इड़ा कठिन और कठोर है। श्रद्धा का आत्म-समर्पण पूर्ण हुआ; इड़ा मनु को नियम की मर्यादा में रखना चाहती है। अन्त में विजय श्रद्धा की ही हुई।

प्रकृति कथा के पृष्ठ-भाग में निरन्तर उपस्थित रही है। कथानक का चतुर्थ पात्र उसे हम कह सकते हैं। पात्रों की मनःस्थितियों के अनुसार ही प्रकृति में वसन्त, उषा अथवा प्रलय के चीत्कार प्रकट होते हैं।

जब मनु और श्रद्धा का मिलन हुआ, तब प्रकृति का स्वरूप भी कोमल है :

'मधुमय वसन्त जीवन-वन के,
वह अन्तरिक्ष की लहरों में;
कब आये थे तुम चुपके-से
रजनी के पिछले पहरों में !'

'क्या तुम्हें देखकर आते यों,
मतवाली कोयल बोली थी।
उस नीरवता में अलसाई
कलियों ने आँखें खोली थीं।'

मनु और इड़ा के मत-भेद के साथ ही प्रकृति में भी विप्लव हुआ :

'उधर गगन में क्षुब्ध हुई सब देव-शक्तियाँ क्रोध-भरी,
रुद्र-नयन खुल गया अचानक, व्याकुल काँप रही नगरी।'

अन्त में पाण्डवों की भाँति सत्य की खोज में जब मनु और श्रद्धा गिरि-पथों पर विचरते हैं, तब प्रकृति का रूप शान्त और गम्भीर हो गया है :

'ऊर्ध्व देश उस नील-तमस में
स्तब्ध हो रही अचल हिमानी।
पथ थककर है लीन, चतुर्दिक
देख रहा वह गिरि अभिमानी।'

किन्तु अधिकतर आपको प्रकृति का रुपहला और सुनहला रूप ही पसन्द है :

'उषा सुनहले तीर बरसती
जय-लक्ष्मी-सी उदित हुई।'

अथवा

'धवल मनोहर चन्द्र-बिम्ब से
अंकित सुन्दर स्वच्छ निशीथ;
जिसमें शीतल पवन गा रहा
पुलकित हो पावन उद्गीथ।'

'प्रसाद'जी की भाषा सरल, प्रवाहमयी और कोमल है। मिठास उसका विशेष गुण है। शान्त प्रकृति, उषा, वसन्त और प्रेम के संगीत के लिए वह अधिक उपयुक्त है। प्रकृति का विकराल स्वरूप उसे अपेक्षित नहीं। 'मधु', 'मधुमय', 'मदिर', 'मधुर' आदि विश्लेषण आपको विशेष प्रिय हैं; 'स्वप्निल', 'धूमिल', 'फेनिल' आदि शब्दों का बाहुल्य है। गीति-काव्य में ऐसी मधुर भाषा ख़ूब खपती है।

आपके शब्द-चित्र बड़े सुन्दर बनते हैं :

'खुलीं उसी रमणीय दृश्य में
अलस चेतना की आँखें;
हृदय-कुसुम की खिलीं अचानक
मधु से वे भीगी पाँखें।'
'किये मुख नीचा कमल समान
प्रथम कवि का ज्यों सुन्दर छन्द।'
'भुज लता पड़ी सरिताओं की
शैलों के गले सनाथ हुए।'

उपमाएँ आपकी अधिकतर प्रकृति से ली गई हैं, विशेषकर रात्रि से :

'नीरव निशीथ में लतिका-सी
तुम कौन आ रही हो बढ़ती ?'

आपकी भाषा ध्वनि-प्रधान भी है। यहाँ निरन्तर भ्रमर-गुंजार, पक्षियों का कलरव, लहरों का गान, झरनों का कलकल नाद सुन पड़ते हैं। यह सब मीठी और कोमल ध्वनियाँ हैं। जल-प्लावन और सिन्धु की हिलोर भयावह शब्द भी करती हैं; किन्तु 'प्रसाद'जी को उधर कुछ आकर्षण नहीं। आपके कान कहीं और ही लगे हैं :

'कंकण क्वणित, रणित नूपुर थे,
हिलते थे छाती पर हार;

मुखरित था कलरव, गीतों में
स्वर-लय का होता अभिसार।'

प्रलय की आपने नीरवता ही देखी :

'दूर-दूर तक विस्तृत था हिम
स्तब्ध उसी के हृदय समान;
नीरवता-सी शिला चरण से
टकराता फिरता पवमान।'

वंशी की ध्वनि भी आपको पसन्द है :

'स्वर का मधु निस्स्वन रंध्रों में
जैसे कुछ दूर बजे वंसी।'

अथवा—

'वह ध्वनि चुपचाप हुई सहसा
जैसे मुरली चुप हो रहती।'

आपको सुरधनु-से चमकीले रंग बहुत प्रिय हैं—नीले, लाल, सुनहले। इन चटकीले रंगों के कारण आपके काव्य में आलोक-सा है :

'संध्या वनमाला की सुन्दर
ओढ़े रंग विरंगी छींट,
गगन - चुम्बिनी शैल - श्रेणियाँ
पहने हुए तुषार किरीट।'

किन्तु नीला रंग आपको बहुत ही प्रिय है। 'कामायनी' के पहले कुछ ही पन्नों से इसका आभास होगा। कहीं-कहीं तो एक ही पृष्ठ में कई बार इसका वर्णन है :

'ऊषा की सजल गुलाली जो
घुलती है नीले अम्बर में।'

या—

'माया के नीले अंचल में
आलोक बिन्दु सा झरता है।'

इसी प्रकार असितकुमार हाल्दार को भी नीला रंग बहुत प्रिय है। 'प्रसाद'जी और भी कुछ कारणवश असित हाल्दार का स्मरण दिलाते हैं। यहाँ मधु और माधव की भरमार है। दोनों ही हमें उन मुग़ल कलाकारों का स्मरण दिलाते हैं, जिनके चित्रों में कोमलता और सुकुमारता के साथ-साथ विलास की झलक थी :

'सुरा सुरभिमय वदन अरुण वे
नयन भरे आलस अनुराग।'

'प्रसाद'जी जीवन को कर्मक्षेत्र मानते हैं। प्रेम और श्रद्धा से जीवन सफल हो जाता है। ज्ञान और तप दोनों में ही नीरसता है। सेवा को आप तप से बढ़कर समझते हैं। तपस्वी के प्रति आप कहते हैं :

'एक तुम, यह विस्तृत भूखण्ड
प्रकृत वैभव से भरा अमंद;
कर्म का भोग, भोग का कर्म
यही जड़-चेतन का आनन्द!
अकेले तुम कैसे असहाय
यजन कर सकते तुच्छ विचार।
तपस्वी! आकर्षण से हीन
कर सके नहीं आत्म-विस्तार।'

× × ×

'समर्पण लो सेवा का सार
सजल संसृति का यह पतवार,
आज से यह जीवन उत्सर्ग
इसी पदतल में विगत विकार।'
'दया, माया, ममता, लो आज,
मधुरिमा लो अगाध विश्वास;

हमारा हृदय रत्न निधि स्वच्छ
तुम्हारे लिए खुला है पास।'

इड़ा का ज्ञानवाद जीवन की पहेली सुलझाने में असफल रहा। आगे चलकर 'प्रसाद'जी ने ज्ञान के शुष्क क्षेत्र का चित्र भी खींचा है :

'प्रियतम ! यह तो ज्ञान-क्षेत्र है
सुख-दुख से है उदासीनता ;
यहाँ न्याय निर्मम, चलता है
बुद्धि-चक्र, जिसमें न दीनता।'

× × ×

'यहाँ प्राप्य मिलता है केवल
तृप्ति नहीं, कर भेद बाँटती ;
बुद्धि, विभूति सकल सिकता-सी
प्यास लगी है ओस चाटती।'

'न्याय, तपस, ऐश्वर्य में पगे
ये प्राणी चमकीले लगते ;
इस निदाघ मरु में, सूखे से
स्रोतों के तट जैसे जगते।'

'कामायनी' में जीवन का एक बड़ा मनोहारी चित्र है :

'वह देखो बालारुण जो है
उषा के कंदुक-सा सुन्दर ;
छायामय कमनीय कलेवर
भावमयी प्रतिमा का मन्दिर।'

'शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध की
पारदर्शिनी सुघड़ पुतलियाँ ;
चारों ओर नृत्य करती ज्यों
रूपवती रंगीन तितलियाँ।'

'इस कुसुमाकर के कानन के
अरुण पराग पटल छाया में ;
इठलातीं, सोतीं, जगतीं ये
अपनी भाव भरी माया में।'
'वह संगीतात्मक ध्वनि इनकी
कोमल अँगड़ाई है लेती ;
मादकता की लहर उठाकर
अपना अम्बर तर कर देती।'

× × ×

'यह जीवन की मध्य भूमि है
रस-धारा में सिंचित होती ;
मधुर लालसा की लहरों से
यह प्रवाहिका स्पन्दित होती।'

माया के इस रंगीन जाल से निकलना कितना कठिन है, यह स्वयं कवि ने शायद अनुभव किया था।

पन्त की भाँति 'प्रसाद'जी भी कहते हैं कि जीवन सुख के ताने-बाने से बना है :

'अमृत-हलाहल यहाँ मिले हैं
सुख-दुख बँधते, एक डोर हैं।'
'....कैसे सुलझें उलझीं सुख-दुख की लड़ियाँ !'

किन्तु कवि का भावुक हृदय जीवन के दुःख से ही अधिक प्रभावित होता है। बार-बार कवि का हृदय दुःख-भार से हाहाकार कर उठता है। मनु के स्वर में स्वयं 'प्रसाद' का स्वर मिला है :

'जो कुछ हो, , मैं न सम्हालूँगा
इस मधुर भार को जीवन के ;

आने दो कितनी आतीं हैं
बाधाएँ दम संयम वन के।'

अथवा—

'आँसू से भींगे अंचल पर
मन का सब कुछ रखना होगा ;
तुमको अपनी स्थिति-रेखा से
वह सन्धि-पत्र लिखना होगा।'

मनुष्य कठोर कर्म-चक्र में फँसा है :

'कर्मचक्र-सा घूम रहा है
यह गोलक बन नियति प्रेरणा ;
सबके पीछे लगी हुई है
कोई व्याकुल नई एषणा।
श्रममय कोलाहल, पीड़नमय
विकल प्रवर्तन महायन्त्र का ;
क्षण-भर भी विश्राम नहीं है
प्राण दास है क्रिया-तन्त्र का।'

'प्रसाद'जी की कविता में दुःखवाद है, किन्तु विद्रोह नहीं। इस कर्म-भार को आप सहर्ष सम्हाल लेते हैं :

'कर्म-यज्ञ से जीवन के
सपनों का स्वर्ग मिलेगा ;
इसी विपिन में मानस की
आशा का कुसुम खिलेगा।'

संसार के सभी बड़े कवि जीवन के दुःख से ही अधिक द्रवित हुए। इस देश और युग की परिस्थितियाँ देखते हुए यह दुःखवाद स्वाभाविक भी लगता है। 'प्रसाद'जी इस पीड़ा के भार से अधीर होकर विप्लववादी नहीं बने। कला के रंगों को उत्तरोत्तर गाढ़ा कर उन्होंने सन्तोष कर लिया।

'कामायनी' में उच्च काव्य के अनेक गुण हैं। इसमें रस, माधुरी, कल्पना, भावुकता, विचार-प्रौढ़ता सभी मिलेंगे। अनेक पंक्तियाँ स्मृतिपट पर अङ्कित हो जाती हैं :

'तारा बनकर यह बिखर रहा
क्यों स्वप्नों का उन्माद अरे!
उस विराट आलोड़न में, ग्रह
तारा बुद्बुद् - से लगते।'

जीवन की जटिलता, उसका आकर्षण, उसकी पीड़ा सबकी यहाँ झाँकी मिलेगी। साथ ही कवि की कल्पना रङ्गीन पङ्ख लेकर बहुत ऊँची उठी है। हिन्दी-काव्य का इतिहास लिखते समय 'कामायनी' को बहुत ऊँचा स्थान देना होगा।

अनामिका

पन्तजी ने 'युग-वाणी' में 'अनामिका' के कवि की स्मरणीय छन्दों में स्तुति की है :

'छन्द बन्ध ध्रुव तोड़, फोड़कर पर्वत कारा
अचल रूढ़ियों की, कवि, तेरी कविता-धारा
मुक्त, अबाध, अमंद, रजत निर्झर-सी निःसृत—'

इस श्रद्धांजलि की हिन्दी के इस तेजस्वी कवि के प्रति आवश्यकता भी थी, जिससे उसका हृदय अकृतज्ञता के भार से क्षुब्ध न हो उठे। अनेक वर्ष पर्यन्त कवि 'निराला' के मौनप्राय रहने से मन में यह आशङ्का हो रही थी कि कीट्स की भाँति कहीं उनकी प्रेरणा का दीपक भी आलोचकों ने न बुझा दिया हो। 'अनामिका' और 'तुलसीदास' के सर्वाङ्ग-सुन्दर दर्शन से हिन्दी जनता को बहुत सन्तोष होगा। इधर आपने 'कुकुरमुत्ता' और 'नये पत्ते' में कुछ नवीन प्रयोग किए हैं।

'निराला' हमें अनायास ही ब्राउनिंग का स्मरण दिलाते हैं। कविता की वही अजस्र, टेढ़ी-मेढ़ी धार, रूढ़िबद्ध छन्दों की उपेक्षा, काव्य के संगीत को जीवन की भग्न ताल से मिलाने का प्रयास।

'अनामिका' में अनेक नई-पुरानी कविताएँ हैं, सन् '२३ और '२४ से लगाकर '३८ तक के प्रयास। इन सबका हमारे ऊपर यह प्रभाव पड़ता है कि भावों की बाढ़ को कवि ने भरसक रोका है। उसकी कविता संयम और शासन-भार से दबी है। किन्तु कभी-कभी उसके सधे कण्ठ का स्वर भी उमड़ पड़ा है और रोके नहीं रुका।

'निराला' सर्वप्रथम शिल्पी हैं। उनकी कविता से हमें अखण्ड किन्तु संयत और शासित शक्ति का भान होता है। 'निराला' ने हिन्दी में नये मुक्तक छन्दों को सफलतापूर्वक निवाहा है। स्वयं आपके शब्दों में :

'वही तोड़ बन्धन
छन्दों का निरुपाय—

अर्ध विकच इस हृदय-कमल में आ तू
प्रिये, छोड़कर बन्धनमय छन्दों की छोटी राह !'

आपकी भावना मानो प्रत्यंचा की भाँति कसी तनी रहती है। पन्तजी के कथनानुसार स्फटिक शिलाओं से इस शिल्पी ने कविता का प्रासाद गढ़ा है।

'निराला' जन-साधारण के कवि नहीं, वह 'कवियों में कवि' हैं। आपके काव्य का प्रधान गुण चिन्तन है। कल्पना विद्युत् की भाँति बीच-बीच में चमक जाती है। मुक्तक छन्दों में संगीत की ताल भग्न हो जाती है, यद्यपि उसकी अपनी तरंग-मालाएँ उमड़ा करती हैं। कथा के प्रवाह में मुक्त छन्द-संगीत और भी स्वतन्त्र हो जाता है। 'सेवा-प्रारम्भ' में हम कभी-कभी भूल जाते हैं कि यह कविता है :

'स्वामी जी घाट पर गये,
'कल जहाज़ छूटेगा' सुनकर

फिर रुक नहीं सके,
जहाँ तक करें पैदल पार—
गंगा के तीर से चले ।....'

'राम की शक्ति-पूजा' अपने शब्दाडम्बर से 'प्रिय-प्रवास' का स्मरण दिलाती है ।

'निराला' हिन्दी काव्य में क्रान्तिकारी शक्ति हैं। टेकनीक में ही नहीं, विचार-विन्यास में भी 'निराला' क्रान्ति के वाहक हैं :

'तोड़ो, तोड़ो, तोड़ो कारा
पत्थर की निकलो फिर,
गंगा-जल-धारा !'

अधिकतर 'निराला' के विषय कविता और छन्दों से सम्बन्धित हैं, किन्तु मनुष्य के कठोर जीवन और प्रकृति-बाला के रूप का आभास भी हमें निरन्तर आपकी कृति में मिलता है। आधुनिक हिन्दी काव्य का चिर-सखा दुःखवाद भी हमें यहाँ मिलता है :

'रोग स्वास्थ्य में, सुख में दुख, है अन्धकार में जहाँ प्रकाश,
शिशु के प्राणों का साक्षी रोदन जहाँ वहाँ क्या आश
सुख की करते हो तुम, मतिमन् ?'

कवि की पीड़ा का आधार ठोस जीवन है, यह दुःख विलास-मात्र नहीं । कवि ने इस विडम्बना से मुक्ति का संदेश भी सुनाया है :

'या निष्ठुर पीड़न से तुम नव जीवन
भर देते हो, बरसाते हैं तव घन !'

आपके नेत्र अतीत की ओर नहीं, भविष्य की ओर लगे हैं ।

'अनामिका' में अनेक प्रगतिशील कविताएँ हैं । 'दान', 'उद्बोधन', 'तोड़ती पत्थर', 'सहज' आदि ।

यह भारतीय जन-समाज के कठोर जीवन की निर्मम झाँकी हमको

देती हैं। इन कविताओं में जीवन का दारुण सत्य है, साथ-साथ आशा का सन्देश भी :

'ताल-ताल से रे सदियों के जकड़े हृदय-कपाट,
खोल दे कर-कर कठिन प्रहार—'
पुनर्वार गायें नूतन स्वर, नव कर से दे ताल,
चतुर्दिक् छा जाए विश्वास।'

मनुष्य को आपने अविकल समता का राग सुनाया है :

'मानव मानव से नहीं भिन्न,
निश्चय हो श्वेत, कृष्ण अथवा,
वही नहीं क्लिन्न ;
भेद कर पंक
निकलता कमल जो मानव का
वह निष्कलंक,
हो कोई सर—'

'अनामिका' में हमें प्रकृति का अभिनव दर्शन भी मिलता है। रूप-माधुरी हमें 'निराला'जी के काव्य में मिलती है, किन्तु आप उसके स्वामी हैं, दास नहीं। आपके कण्ठ में मीठे गीत उमड़ते हैं, किन्तु आपको उनके प्रति कोई विशेष मोह नहीं :

'वे किसान की नई बहू की आँखें
ज्यों हरीतिमा में बैठे दो विहग बन्द कर पाखें।'

अथवा, आप सान्ध्य-वधू का चित्र खींचते हैं :

'बीत चुका शीत, दिन वैभव का दीर्घतर
डूब चुका पश्चिम में, तारक-प्रदीप-कर
स्निग्ध शान्त दृष्टि सन्ध्या चली गई मन्द-मन्द
प्रिय की समाधि ओर, हो गया है रव बन्द

विहगों का नीड़ों पर, केवल गंगा का स्वर
सत्य ज्यों शाश्वत सुन पड़ता है स्पष्टतर—'

किन्तु शक्ति के इस उपासक कवि को अपनी रुचि का विषय ज्वालामय 'ज्येष्ठ' में मिलता है :

'घोर-जटा-पिंगल मंगल देव ! योगि-जन-सिद्ध !
धूलि-धूसरित, सदा निष्काम !'

प्रकृति का यह तेजस्वी रूप आपको आकर्षित करता है :

'उठी झुलसाती हुई लू,
रूई ज्यों जलती हुई भू—'

मिठास आज हिन्दी कविता में बहुत है। बहुत ज़्यादा मिठास स्वास्थ्यप्रद भी नहीं होती। 'निराला' के काव्य में पच्चीकारी यथेष्ट मात्रा में है :

'गोमती क्षीण-कटि नटी नवल,
नृत्य पर मधुर-आवेश-चपल।'

किन्तु केवल पच्चीकारी में ही उलझकर आप नहीं रह जाते। आप अपनी कमज़ोरियाँ जानते हैं :

'शुष्क हूँ—नीरस हूँ—उच्छृङ्खल—'
'वहाँ एक यह लेकर वीणा दीन
तन्त्री क्षीण—नहीं जिसमें कोई झंकार नवीन,
रुद्ध कंठ का राग अधूरा कैसे तुझे सुनाऊँ ?'

किन्तु आप अपनी शक्ति भी जानते हैं। कविता-प्रेयसी से आप कहते हैं :

'अगर कभी देगी तू मुझको कविता का उपहार
तो मैं भी तुझे सुनाऊँगा भैरव के पद दो-चार !'
'तेरे सहज रूप से रँग कर
झरे गान के मेरे निर्झर,

भरे अखिल सर,
स्वर से मेरे सिक्त हुआ संसार !'

हमें हर्ष है कि हिन्दी के इस तपस्वी कवि को अपनी शक्तियों पर इतना अधिकार है और इतना आत्म-विश्वास उसके मन में है। उसकी प्रतिभा के इस मध्याह्न से हिन्दी कविता फले-फूलेगी।

पन्त की प्रगति

१

पल्लविनी

'पल्लविनी' कविश्रेष्ठ पन्त की 'युगान्त' तक की चुनी हुई एक सौ कविताओं का संग्रह है। पन्त की कविता में आगे चलकर युगान्तरकारी परिवर्तन हुए हैं, फिर भी यह आवश्यक है कि हम उनके अतीत छायावादी जीवन की रूपरेखा को विस्मृत न कर दें और हिन्दी कविता के इतिहास में छायावाद के स्थान को याद रक्खें।

व्रजभाषा का काव्य एक समाज-विशेष के लिए रचा गया। उस समाज के क्षयग्रस्त होने पर भी हमारे कवि पुराना पाठ दुहराते रहे। कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने आधुनिक हिन्दी कविता को युग के अनुरूप भाषा-दान दिया, किन्तु इस काव्य के कोमल शिशु प्राणों में अधिक स्पन्दन न आ सका। पन्त के आगमन ने इस काव्य में नये जीवन, प्राण और बल का संचार किया।

जब पन्त ने काव्य-जीवन में पैर रक्खा, वह भारतीय राष्ट्र की जाग्रति का युग था। सन् '२० का सत्याग्रह आन्दोलन भारतीय स्वाधीनता की लड़ाई में एक महत्वपूर्ण क़दम था। इस संघर्ष की प्रतिध्वनि हमें 'परिवर्तन' में मिलती है।

आज विश्व-पूँजीवाद संकट-काल में फँसकर अपनी अन्तिम साँस खींच रहा है, और शोषक और शोषित वर्गों की अन्तिम लड़ाई के पल निकट आ रहे हैं। अतएव हमारी साहित्यिक श्रेणियाँ भी वर्ग-संघर्ष के चक्र में पड़ बँट रही हैं। जो कलाकार वर्ग-संस्कृति के हिमायती हैं, वे अब भी जीवन की विषमताओं से साहित्य को बचाकर रखने के पक्ष में हैं। जो नव संस्कृति के निर्माण में सहायता दे रहे हैं, उनकी वाणी में नये स्वर और ताल हम सुनते हैं।

भारतीय स्वाधीनता का संग्राम विश्व-स्वाधीनता के संग्राम का ही एक अङ्ग है। जब यह संघर्ष तीव्रतम होता है, तो उसकी प्रेरणा छायावाद की परिधि में नहीं समा सकती। वह 'युगवाणी', 'वंगदर्शन' और 'कुकुरमुत्ता' के समान रचनाओं में व्यक्त होती है।

'पल्लविनी' में हमें छायावादी पन्त के पूरे जीवन का इतिहास लिखा मिलेगा—उनकी काव्य-कुशलता और कारीगरी, उनका कल्पना-विलास, गम्भीर चिन्तन, नवीन ध्वनियों का सृजन—विशेषकर प्रकृति के अभिनव रूप का मनन; इस रूप-विलास के प्रति कौतूहल और विस्मय का भाव और हृदय से निकली श्रद्धांजलि।

कवि पन्त में भाव-पक्ष की आरम्भ से ही कमी है। वह बौद्धिक कवि हैं। 'युग-वाणी' में बुद्धि-पक्ष और भी तीखा हो गया है। 'पल्लविनी' में भावना की कमी को अतिरञ्जित कल्पना और सङ्गीत ने छिपा रक्खा है। 'पल्लविनी' में हम पन्त को मुख्यतः प्रकृति के कवि के रूप में ही पाते हैं। इसका एक अपवाद 'परिवर्तन' है। 'युगान्त' की अन्तिम कविता 'बापू के प्रति' एक नये दृष्टिकोण की सूचना है। कवि की प्रेरणा अब प्रकृति से मानव की ओर मुड़ रही है। 'युग-वाणी' में भी कवि की दृष्टि 'गंगा की साँझ' की ओर उठी है, किन्तु यह साँझ 'सोने' की न होकर 'ताँबे' की है। आपकी कल्पना पर इस प्रकार यथार्थ का रंग चढ़ा है।

छायावादी पन्त की कुछ विशेषताओं को हम देख सकते हैं। वह रात

के कवि हैं। उनके काव्य में सूर्य का प्रकाश न होकर चाँदनी का झिल-मिल आलोक, छायालोक की अनोखी दीप्ति, अन्धकार की प्रगाढ़ कालिमा और स्वप्नों का धुँधलापन मिलेगा। सूर्य के दर्शन हमें उषा और सन्ध्या के समय मिलेंगे, जब रश्मियाँ अँधेरे के साथ अभिसार करती हों। इस वातावरण में विहङ्गों का गान कवि ने खूब ध्यान से सुना है। स्वयं कवि का गान विहङ्ग सदृश है :

'है वर्ण नीड़ मेरा भी जग उपवन में,
मैं खग सा फिरता नीरव भाव गगन में,
उड़ मृदुल कल्पना पंखों में, निर्जन में,
चुगता हूँ गाने बिखरे तन में, कन में।'

'स्वप्न' कवि का प्रिय विषय है। 'पल्लविनी' में इस विषय पर अनेक कविताएँ संगृहीत हैं। इन कविताओं में हम पन्त की कल्पना की सुकुमारता और उनके शब्द-चित्रों का अच्छा अध्ययन कर सकते हैं :

'पलक यवनिका के भीतर छिप,
हृदय मंच पर छा छविमय,
सजनि! अलस के मायावी शिशु,
खेल रहे कैसा अभिनय?'

अथवा

'हिमजल बन तारक पलकों से,
उमड़ मोतियों से अवदात,
सुमनों के अधखुले दृगों में,
स्वप्न लुढ़कते जो नित प्रात;
उन्हें सहज अंचल में चुन चुन,
गूँथ उषा किरणों में हार,
क्या अपने उर के विस्मय का,
तूने कभी किया श्रृङ्गार?'

'युगवाणी' में कला-पक्ष के प्रति कवि उदासीन है, 'पल्लविनी' ठीक इसके विपरीत है। यहाँ कवि ने अपनी कल्पना के कोमल रेशमी तारों को सहेज-सहेजकर रक्खा है, और उनके रंग-बिरंगे चमकीले पट बुने हैं। उसकी भाषा साँचे में ढली है, और उसकी ध्वनियाँ सर्वत्र संगीतमय हैं। 'बादल' में गति, उमंग और अभिनव स्फूर्ति है :

'भूमि गर्भ में छिप विहंग से,
फैला कोमल, रोमिल पंख,
हम असंख्य अस्फुट बीजों में,
सोते साँस, छुड़ा जड़, पंक;
विपुल कल्पना-से त्रिभुवन की
विविध रूप धर, भर नभ अङ्क
हम फिर क्रीड़ा कौतुक करते,
छा अमत्त उर में निःशंक।
कभी चौकड़ी भरते मृग-से
भू पर चरण नहीं धरते
मत्त मतंगज कभी झूमते,
सजग शशक नभ को चरते....।'

कभी-कभी पन्त की भाषा संस्कृत-भार से आक्रान्त हो उठी है, किन्तु शब्दावली की दीनता वह कभी स्वीकार नहीं करती। 'ग्राम्या' में पन्त की भाषा सरल, सहज, वाचाल रूप लेकर प्रकट हुई है, और इस प्रकार प्रगतिगामी पन्त के सिर का एक बड़ा आरोप मिट गया है।

'पल्लविनी' के कवि का विचार-दर्शन है कि जग में सुख-दुःख परस्पर मिले-जुले हैं और उसके आर-पार कुछ नहीं सूझता :

'जीवन में धूप छाँह,
सुख दुख के गले बाँह,

मिटती सुख की न चाह,
अमिट मोह माया।'

कहीं-कहीं कवि के हृदय पर गहरे विषाद की कालिमा जम गई है, जो छुटाये नहीं छुटती :

'जग के निद्रित स्वप्न सजनि ? सब
इसी अन्धतम में बहते,
पर जागृति के स्वप्न हमारे,
सुप्त हृदय ही में रहते।'
× × ×
'अह, किस गहरे अन्धकार में
डूब रहा धीरे संसार,
कौन जानता है, कब इसके
छूटेंगे ये स्वप्न असार !'

'परिवर्तन' में कवि के हृदय पर छाई व्यथा तुमुलनाद कर उठी है, और उसकी कल्पना वर्त्तमान से अतीत के वैभव की तुलना कर मलिन-वसना बनी है :

'आज बचपन का कोमल गात
जरा का पीला पात !
चार दिन सुखद चाँदनी रात
और फिर अन्धकार अज्ञात।'

यह पराजय का भाव अब कवि की प्रेरणा से निकल चुका है, क्योंकि अब उसकी कल्पना न अतीत में वास करती है, न अन्तमुखी होकर अपने में ही घुट रही है। वह समझने लगा है कि हमारे समाज के वर्गसंघर्ष की प्रतिक्रिया-स्वरूप एक नई संस्कृति बनेगी ही, जिसमें शोषण और वर्गों का अन्त हो जायेगा। यह एक ऐतिहासिक-क्रिया है जिसे हम रोक नहीं सकते; इसमें जल्दी या देर हम कर सकते हैं :

'भाव कर्म में जहाँ साम्य हो सतत ;
जग-जीवन में हों विचार जन के रत ।
ज्ञान-वृद्ध निष्क्रिय न जहाँ मानव मन,
मृत आदर्श न बन्धन, सक्रिय जीवन।'
'रूढ़ि रीतियाँ जहाँ न हों आराधित,
श्रेणि वर्ग में मानव नहीं विभाजित ।
धन-बल से हो जहाँ न जन-श्रम शोषण,
पूरित भव-जीवन के निखिल प्रयोजन ।
जहाँ दैन्य-जर्जर, अभाव-ज्वर पीड़ित,
जीवन यापन हो न मनुज को गर्हित ।'

'पल्लविनी' आधुनिक हिन्दी-काव्य के बढ़ते कोष की अमर निधि है। वह हमें स्मरण दिलाती है कि किस प्रकार छायावाद ने द्विवेदी-युग के शिशु-काव्य में प्राण फूँके, उसे बल दिया और साज-शृङ्गार और संगीत सिखाया। जब छायावाद में ही क्षय रोग के चिह्न प्रकट होने लगे, पन्त ने 'युग-वाणी' और 'ग्राम्या' लिखकर हिन्दी-काव्य को नया जीवन प्रदान किया और उसे अपनी दीर्घ यात्रा में एक मंज़िल और आगे बढ़ाया। यह 'पल्लव' से 'ग्राम्या' तक पन्त की साहित्यिक प्रगति का इतिहास है।

२

युगवाणी

'युगवाणी' कवि पन्त के साहित्यिक जीवन में एक पुराने युग के अन्त और नये के आविर्भाव की सूचना है। 'युगवाणी' से पूर्व की रचना का नाम 'युगान्त' इसी दृष्टि से सार्थक है। स्वयं 'युगान्त' में युग के अन्त की कोई सूचना प्रकाश रूप से न थी। केवल 'बापू के प्रति' कविता कवि के बदलते दृष्टिकोण की परिचायक थी। कवि की प्रेरणा 'युगान्त' में सजग दीपशिखा-सी प्रज्वलित है, किन्तु अन्तिम कविता 'बापू' में वह

प्रकृति के अभिनव रूप-विलास को तज मानवी समस्याओं की ओर झुक रही है।

'युगवाणी' की कविताएँ नवीन दिशा में एक प्रयास हैं। 'युग के गद्य को वाणी देने का प्रयत्न' और 'गीत-गद्य' इन शब्दों में निरहंकारी कवि ने अपनी पुस्तक का परिचय दिया है। 'युगवाणी' की कविताएँ उत्तप्त भावना-रहित हिम-सी शीतल ठंडी हैं। इसका कारण है कवि का संयमशील बुद्धिवादी दृष्टिकोण। यह कोई नई बात नहीं। पन्त सदा से कल्पनाशील चिन्तन-प्रधान कवि रहे हैं। भावना की अपेक्षा कल्पनाविलास ही उनका प्रधान गुण है। कल्पना के रेशमी तानों-बानों से ही 'पल्लव' और 'युगान्त' के रंगीन पट बुने गये हैं। 'पल्लव' के पन्त के लिए 'नवीन' ने कहा था : " 'शैली' की आग पन्त में कहाँ ?" यद्यपि 'पल्लव' में पन्त की तरल लावा-सी कविता 'परिवर्तन' भी है। 'युगवाणी' में पन्त की कल्पना ने वैराग्य ले लिया है, और उनके संगीत की गति धीर-गम्भीर है; चिन्तन और मनन का यह आधिपत्य उनके और किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता।

कवि का यह तामस-रूप कुछ पाठकों को नहीं रुचा। किन्तु 'युग-वाणी' एक प्रयोग है। कवि अपनी पुरानी लीक त्यागकर नया पथ खोज रहा है।

'युगवाणी' के विरुद्ध एक आरोप यह है कि अमर साहित्य 'युगवाणी' न होकर 'युग-युग की वाणी' होता है। किन्तु जीवित-साहित्य में युग की प्रतिध्वनि सतत रहती है। कालिदास और शेक्सपियर के युग का पुन-र्निर्माण हम उनके काव्य की सहायता से करते हैं। युग की प्रतिध्वनि तो काव्य में मिलेगी ही। भावना, कल्पना और चिन्तन गुण यदि काव्य में हैं, तभी वह अमर होगा।

'युगवाणी' की कमज़ोरी यह है कि कवि ने दर्शन अपना विषय बनाया है, और यह विषय कविता की गति में अवरोध पैदा करता है। जहाँ कवि ने जीवन का कोई लघु अंग अपनाकर उस पर अपने प्रगतिवादी दृष्टिकोण

से प्रकाश डाला है, वहाँ उसकी रचना चमक उठी है। 'युगवाणी' में अनेक उच्च श्रेणी की कविताएँ हैं। 'चींटी', 'शिल्पी', 'दो लड़के', 'मानव-मन', 'गंगा की साँझ', 'झंझा में नीम' आदि, जिनकी महत्ता रूढ़ि के आलोचक भी मानते हैं। किन्तु इन कविताओं का रूढ़ि-मुक्त संगीत, इनकी रूप-रेखा और चित्र-भाषा एक नवीन दृष्टिकोण और दृष्टि-दान का फल है।

आरंभ में ही कवि कहता है :

'खुल गये छन्द के बन्ध,
प्रास के रजत पाश,
अब गीत मुक्त,
औ' युगवाणी बहती अयास!'

'अनामिका' के कवि के प्रति पुष्पांजलि में यही बात दुहराई गई है :

'छन्द बन्ध ध्रुव तोड़ फोड़कर पर्वत कारा
अचल रूढ़ियों की, कवि, तेरी कविता धारा
मुक्त, अबाध, अमंद रजत निर्झर-सी निःसृत—'

इन पंक्तियों में स्वयं एक उद्दाम वेग, गति और शक्ति भरी है। यह नवीन गति-प्रवाह और संगीत हमें 'युगवाणी' में सर्वत्र मिलते हैं :

'सर् सर् मर् मर्
रेशम के स्वर भर,
घने नीम दल
लंबे, पतले, चंचल
श्वसन-स्पर्श से
रोम हर्ष से
हिल-मिल उठते प्रति पल!'

'युगवाणी' के शब्द-चित्र भी कोमल ब्रश से नहीं बने। यह चित्र यथार्थ, सच्चे और मार्मिक हैं। कवि कहता है :

'आओ, मेरे स्वर में गाओ।
जीवन के कर्कश अपस्वर!
मेरी वंशी में लय बन जाओ।'

'जीवन के कर्कश अपस्वर' 'युगवाणी' में निरन्तर प्रतिध्वनित हैं:

'सिगरेट के खाली डिब्बे, पन्नी चमकीली,
फीतों के टुकड़े, तस्वीरें नीली-पीली—'

अथवा—

'पीले पत्ते, टूटी टहनी,
छिलके, कंकर, पत्थर
कूड़ा करकट सब कुछ भू पर
लगता सार्थक सुन्दर।'

कवि जगत् की रूप-माधुरी और विलास से मुख मोड़ रहा है, और विश्व की विराट् कुरूपता को अपना रहा है। इसी प्रकार अंग्रेजी के कवि मेसफ़ील्ड ने कहा है कि विश्व में सभी टूटी-फूटी, दुर्बल अशक्त, रूपहीन वस्तुएँ उसके गीत का विषय बनें।

'युगवाणी' की पृष्ठ-भूमि में साम्यवाद का विशाल पट है। 'मार्क्स के प्रति', 'भौतिकवाद', 'साम्राज्यवाद', 'समाजवाद-गान्धीवाद' आदि कविताएँ गम्भीर मनन और चिन्तन का फल हैं। भविष्य में यह 'टेक्स्ट-बुकों' में शायद रक्खी जायें। किन्तु आज के शिक्षित हिन्दी-समाज का एक अंश इन कविताओं को ग्रहण करने में असमर्थ है। बच्चन ने इन्हें सुनकर पन्तजी से कहा था कि उनके सिर में दर्द हो गया। पन्तजी आज कविता-पाठकों के हृदय में दर्द न पहुँचाकर उनके सिर में दर्द पहुँचाना चाहते हैं।

जो पाठक साम्यवाद समझते हैं, उन्हें इन कविताओं में अनन्य रस मिलेगा। इस दिव्य दृष्टि से हीन पाठक इन 'कर्कश अपस्वरों' की अवहेलना करेंगे।

'मार्क्स के प्रति' पन्तजी कहते हैं :

'दंतकथा, वीरों की गाथा, सत्य नहीं, इतिहास,
सम्राटों की विजय-लालसा, ललना भृकुटि-विलास;
दैव नियति का निर्मम क्रीड़ा-चक्र न वह उच्छृङ्खल,
धर्मान्धता, नीति-संस्कृति का ही केवल समरस्थल।'

मनुष्य का इतिहास वीर पुरुष, सुन्दर स्त्री और नियति का चक्र ही नहीं चलाते; वह चलता है वर्ग और संस्कारों के संघर्ष से। यह पाठ मार्क्स ने संसार को पढ़ाया और दलित वर्गों को विजय का सन्देश सुनाकर उन्हें प्राण-दान दिया।

पन्त का काव्य आज इस सन्देश को लेकर बढ़ रहा है। हमारे सामूहिक जीवन की आशाओं का वह अगुआ बना है। मधुर वीणा की कोमल तान न पाकर विलासी पाठक असन्तुष्ट और असहिष्णु हो उठेंगे, किन्तु समर-भूमि की ओर बढ़ती सेनाएँ इस रण-भेरी की पुकार से उत्फुल्ल होंगी।

३

ग्राम्या

'ग्राम्या' कवि पन्त की लम्बी ध्रुव-यात्रा का नया मील-चिह्न है। कला का जो रूप 'युगवाणी' में आपने दिया था, उसी का विकास 'ग्राम्या' में हुआ है। 'युगवाणी' में पन्त दार्शनिक थे; 'ग्राम्या' में कवि और दार्शनिक का अपूर्व सम्मिलन हुआ है। 'युगवाणी' में कवि का दृष्टिकोण बौद्धिक था; उस नवीन दृष्टि-लाभ से कवि ने भारत के ग्राम्य-जगत् को देखा और अपनी भावना में रँगकर उसे अनूप और अश्रुतपूर्व पाया। 'ग्राम्या' में दर्शन, भावना और कल्पना का संगीत के साथ समन्वय हुआ है।

'पल्लव' में कवि ने कल्पना-प्रधान कविता रची; 'गुञ्जन' में वह स्वरों को साधता रहा; 'युगान्त' में नवीन उल्लास से वह प्रकृति की ओर मुड़ा;

'युगवाणी' कला में आनेवाली क्रान्ति की सूचना थी; 'ग्राम्या' उस बन्धन-हीन कला का निरूपण है, किन्तु साथ ही उसमें पुराने काव्य के सभी गुणों का समावेश है।

'ग्राम्या' की लगभग सभी कविताएँ दिसम्बर १६३६ से फ़रवरी १६४०—इन तीन महीनों में लिखी गई हैं। इसका मतलब है कि कवि की प्रेरणा आज तरल, वेगवती और गतिशील है। शीघ्र ही हमें 'ग्राम्या' की समता करनेवाले अथवा और भी प्रौढ़ और विकासमान काव्य-ग्रंथ कवि की लेखनी से मिलने चाहिएँ।

ग्राम्या की भूमिका में पन्तजी लिखते हैं : " 'ग्राम्या' में मेरी 'युगवाणी' के बाद की रचनाएँ संगृहीत हैं। इनमें पाठकों को ग्रामीणों के प्रति केवल बौद्धिक सहानुभूति ही मिल सकती है। ग्राम-जीवन में मिलकर, उसके भीतर से, ये अवश्य नहीं लिखी गई हैं। ग्रामों की वर्तमान दशा में वैसा करना केवल प्रतिक्रियात्मक साहित्य को जन्म देना होता।"

कालाकाँकर के लम्बे प्रवास में पन्तजी ने भारतीय गाँव को शायद बहुत पास से देखा है, क्योंकि 'ग्राम्या' के दृष्टिकोण में केवल बौद्धिक गुण ही नहीं, गहरी अनुभूति भी है। भारतीय गाँव का जीवन, सुख-दुःख, राग-द्वेष, वर्तमान और भविष्य 'ग्राम्या' पढ़ते-पढ़ते हमारे आगे आ जाते हैं; ग्राम्य-जग में प्रकृति का शृंगार, यहाँ के नर-नारी, मेले और उत्सव, गाँव के देवता, गति-रुद्ध जीवन—यह सब हमें मिलते हैं।

'ग्राम्या' में और भी अनेक सामयिक विषयों को कवि ने स्पर्श किया है। भारत-माता, चरखा-गीत, महात्माजी के प्रति, राष्ट्र-गान, १६४०, अहिंसा आदि।

'ग्राम्या' की टेकनीक में हमें अनेक नये गुण मिले। 'ग्राम्या' में कवि की कला यथार्थ की ओर मुड़ रही है। उसकी कल्पना आज जीवन की वास्तविकता से प्रेरणा खोज रही है।

ग्रामीण बुड्ढे का चित्र देखिए :

'खड़ा द्वार पर लाठी टेके,
वह जीवन का बूढ़ा पंजर,
चिमटी उसकी सिकुड़ी चमड़ी
हिलते हड्डी के ढाँचे पर।
उभरी ढीली नसें जाल सी
सूखी ठठरी से हैं लिपटी,
पतझर में ठूँठे तरु से ज्यों
सूनी अमरबेल हो चिपटी।'

पन्त की भाषा में भी आश्चर्यजनक परिवर्तन हुआ है। पन्तजी के पास शब्दों का तो सदैव ही अपार कोष रहा है, किन्तु आपके विरुद्ध यह आरोप था कि आपकी भाषा दुरूह संस्कृत से बोझिल है। 'ग्राम्या' में कवि की भाषा ने भी सहज ग्रामीण वेष रचा है :

'उजरी, उसके सिवा किसे कब
पास दुहाने आने देती ?
अह, आँखों में नाचा करती
उजड़ गई जो सुख की खेती !
बिना दवा - दर्पन के गृहिनी
स्वरग चली, आँखें आतीं भर,
देख - रेख के बिना दुधमुँही
बिटिया दो दिन बाद गई मर !'

हम पहले भी कह चुके हैं कि 'ग्राम्या' में पन्त सर्वप्रथम कवि हैं, दार्शनिक नहीं। भविष्य में 'युग-वाणी' स्कूलों में समाजवाद की टेक्स्ट-बुक बनेगी, 'ग्राम्या' नहीं। 'ग्राम्या' में अभिनव प्रकृति-विलास है, जीवन-मेले के अनूप रेखा-चित्र, और इसके संगीत में चंचलता, उल्लास और माधुरी है।

नक्षत्रों और फूलों की पन्तजी को अपूर्व जानकारी है। प्रकृति-वर्णन

में आप सोना, चाँदी, मरकत आदि की अधिक उपमा देते हैं, किन्तु अब आपकी उपमाएँ भी बदल रही हैं। प्रकृति का ग्रामीण चित्र भी पन्तजी ने अङ्कित किया है :

'रोमांचित सी लगती वसुधा
आई जौ गेहूँ में वाली,
अरहर सनई की सोने की
किंकिणियाँ हैं शोभाशाली।
उड़ती भीनी तैलाक्त गन्ध,
फूली सरसों पीली - पीली
लो, हरित धरा से झाँक रही
नीलम की कलि, तीसी नीली।'

'ग्राम्या' में कवि ने नारी की मुक्ति का सन्देश विशेष रूप से सुनाया है। लगभग एक दर्जन कविताएँ इस विषय पर 'ग्राम्या' में हैं। 'स्त्री' कविता की तुलना बिहारी के प्रसिद्ध दोहे से हो सकती है :

'यदि स्वर्ग कहीं है पृथ्वी पर, तो वह नारी उर के भीतर।
दल पर दल खोल हृदय के स्तर
जब बिठलाती प्रसन्न होकर
वह अमर प्रणय के शत दल पर!
मादकता जग में कहीं अगर, वह नारी अधरों में सुखकर।
क्षण में प्राणों की पीड़ा हर,
नव जीवन का दे सकती वर
वह अधरों पर धर मदिराधर।
यदि कहीं नरक है इस भू पर, तो वह भी नारी के अन्दर।
वासनावर्त्त में डाल प्रखर
वह अन्ध गर्त में चिर दुस्तर,
नर को ढकेल सकती सत्वर!'

'ग्राम्या' के अनेक गीत हिन्दी काव्य के ज्योति-स्तंभ बनेंगे, इसका हमें विश्वास है। 'ग्राम देवता', 'ग्राम युवती', 'सन्ध्या के बाद', 'खिड़की से' आदि कविताओं पर किसी भी साहित्य को अभिमान हो सकता है। इन गीतों को हम भारतीय कवि की मुक्त आत्मा का संगीत कह सकते हैं।

महादेवी वर्मा

सुन्दर मख़मल के कोमल क़ालीनों से भरा कमरा, मन्द-मन्द स्मित हास्य बखेरता दीपक, बाहर तारों से भरा अनन्त आकाश, गुन-गुन करती कवयित्री की वाणी—ऐसी कल्पना हमारे मन में उठती है। कम से कम श्रीमती महादेवी वर्मा के कविता-संसार का तो यह ठीक ही चित्र लगता है।

घुल-घुलकर गलनेवाली शमा, मज़ार पर जलाया दीपक, ओस के आँसू, कोई अनन्त प्रतीक्षा, अनन्य विरह, आपकी कविता का ध्यान करते ही ये चित्र हमारी कल्पना में घूम जाते हैं।

'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा', 'सान्ध्य गीत' और 'दीपशिखा' आपकी यात्रा के चरणचिह्न हैं। आपको काव्य साधना में निरत हुए लगभग बीस वर्ष हो चुके हैं। छायावादी पन्त से प्रभावित 'नीहार' के झिलमिल उदय से अब तक आपके काव्य का प्रचुर विकास हो चुका है। 'रश्मि' और 'नीरजा' में आपकी काव्य-प्रेरणा पूर्ण वयःप्राप्त और प्रौढ़ हो चुकी है। 'सान्ध्य-गीत' क्या सचमुच आपके काव्य-जीवन का सान्ध्य-गीत होगा? क्योंकि आपके काव्य की 'दीपशिखा' मन्द और हलकी पड़ रही है। आपके गीतों में पच्चीकारी अधिक और भावना कम हो चली है। आपका मौन अधिकाधिक गहरा और गम्भीर होता जा रहा है। इधर आपका ध्यान देश और समाज की समस्याओं की ओर बरबस खिंचा है, और इसका प्रभाव आपके साहित्य पर भी पड़ेगा ही।

आज श्रीमती महादेवी वर्मा का आसन हिन्दी काव्य-जगत् में बहुत

ऊँचा है। 'नीहार' के बाद से ही आपकी प्रतिभा का स्वतन्त्र विकास हुआ और अब आपके काव्य,के अनेक गुण हमको अनायास ही स्मरण हो आते हैं—अतिरंजित भावना, कल्पना, निराशा, सुन्दर शब्द-विन्यास और रेखा-चित्र, अमिट वेदना, एक अनन्त खोज; इन गुणों की आधुनिक हिन्दी काव्य पर स्पष्ट छाप है।

'नीहार' में श्रीमती महादेवी वर्मा के काव्य की रूप-रेखा बन रही है। एक अव्यक्त पीड़ा इन छन्दों में है, किन्तु उसका कोई स्थिर रूप नहीं। कवयित्री के मन में एक हूक उठती है, वह गाने लगती है—इससे कुछ मतलब नहीं क्या? इन गीतों में एक कहीं कुछ दूर की पुकार है, पवन का एक झोंका, लहरों की एक करवट, तारों का कुछ सन्देश :

'जब असीम से हो जायेगा
मेरी लघु सीमा का मेल—'

इस पुकार को 'छायावाद' कहा गया है। पन्त के 'मौन-निमन्त्रण' में इस छायावाद का सुन्दर, सुगढ़ स्वरूप हमें देखने को मिलता है, इस कविता का तत्कालीन तरुण गीतकारों पर गहरा प्रभाव पड़ा। चतुर्दिक् इसकी प्रतिध्वनि सुनाई पड़ी। विस्मय-भाव ही इस छायावाद का प्रधान गुण था :

'झकोरों से मोहक सन्देश
कह रहा हो छाया का मौन,
सुप्त आहों का दीन विषाद
पूछता हो, आता है कौन ?'

अथवा—

'अवनि-अम्बर की रुपहली सीप में
तरल मोती-सा जलधि जब काँपता,
तैरते घन मृदुल हिम के पुञ्ज-से,
ज्योत्स्ना के रजत पारावार में,
....

सुरभि बन जो थपकियाँ देता मुझे
नींद के उच्छ्वास-सा वह कौन है ?'

श्रीमती महादेवी वर्मा के काव्य में गीत-भावना प्रधान है। गीति-काव्य अन्तर्मुखी और अहम् में लीन होता है। हिन्दी का आधुनिक गीति-काव्य क्यों अन्तर्मुखी है, इसके कारण देश की सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था में मिलेंगे। 'एक बार' में श्रीमती वर्मा भारत की दशा पर क्रंदन कर उठी हैं :

'कहता है जिनका व्यथित मौन
हम-सा निष्फल है आज कौन ?
निर्धन के धन - सी हास - रेख
जिनकी जग ने पाई न देख,
उन सूखे ओठों के विषाद
में मिल जाने दो हे उदार !
फिर एक बार बस एक बार !'

आपने जीवन की पीड़ा को अपने गीतों में सँजोया, और पीड़ा आपके गीत में बिंधी ही रही। गीत का निर्झर अजस्र वेग से बह निकला :

'चुभते ही तेरा अरुण बान।
बहते कन-कन से फूट-फूट,
मधु के निर्झर से सजल गान !'

आप कहती हैं—"हिन्दी काव्य का वर्तमान नवीन युग गीत-प्रधान ही कहा जायगा। हमारा व्यस्त और वैयक्तिक प्राधान्य से युक्त जीवन हमें काव्य के किसी और अंग की ओर दृष्टिपात करने का अवकाश ही नहीं देना चाहता। आज हमारा हृदय ही हमारे लिए संसार है। हम अपनी प्रत्येक साँस का इतिहास लिख रखना चाहते हैं, अपने प्रत्येक कम्पन को अंकित कर लेने के लिए उत्सुक हैं और प्रत्येक स्वप्न का मूल्य पा लेने के लिए विकल हैं।'

'नीरजा' और 'सान्ध्य गीत' में आपका गायन बहुत मीठा और भीना हो गया है, जैसे गीत दुःख से बोझिल आत्मविस्मृत-सा हो उठा हो। आपने अपने प्राणों की जीवन-बाती जलाई है, किन्तु वह मंद-मंद जलती है :

'मधुर-मधुर मेरे दीपक जल !
युग-युग प्रतिदिन प्रतिक्षण प्रतिपल
प्रियतम का पथ आलोकित कर !
सौरभ फैला विपुल धूप बन ;
मृदुल मोम सा घुल रे मृदु तन ;
दे प्रकाश का सिन्धु अपरिमित
तेरे जीवन का अणु गल-गल !
पुलक-पुलक मेरे दीपक जल !'

इन गीतों का अपना विशेष गुण एक मधुर पीड़ा-भार है जो 'नीरजा' और 'सान्ध्य गीत' में कुछ हद तक अश्रुधार में भीगकर बहा है। कम से कम उसकी टीस अब उतनी असह्य नहीं। 'रश्मि' की भूमिका में कवयित्री ने अपने दुःखवाद का कुछ संकेत दिया है—

'सुख और दुःख के धूपछाँहीं डोरों से बुने हुए जीवन में मुझे केवल दुःख ही गिनते रहना क्यों इतना प्रिय है, यह बहुत लोगों के आश्चर्य का कारण है।....संसार जिसे दुःख और अभाव के नाम से जानता है, वह मेरे पास नहीं है। जीवन में मुझे बहुत दुलार, बहुत आदर और बहुत मात्रा में सब कुछ मिला है, परन्तु उस पर दुःख की छाया नहीं पड़ सकी। कदाचित् यह उसी की प्रतिक्रिया है कि वेदना मुझे इतनी मधुर लगने लगी है।

'इसके अतिरिक्त बचपन से ही भगवान् बुद्ध के प्रति एक भक्तिमय अनुराग होने के कारण उसकी संसार को दुःखात्मक समझनेवाली फिलॉसफी से मेरा असमय ही परिचय हो गया था।'

'अवश्य ही उस दुःखवाद को मेरे हृदय में एक नया जन्म लेना

पड़ा, परन्तु आज तक उसमें पहले जन्म के कुछ संस्कार विद्यमान हैं, जिनसे मैं उसे पहिचानने में भूल नहीं कर पाती।'

'दुःख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है।....विश्व-जीवन में अपने जीवन को, विश्व-वेदना में अपनी वेदना को, इस प्रकार मिला देना जिस प्रकार एक जल-बिन्दु समुद्र में मिल जाता है, कवि का मोक्ष है।'

महादेवी वर्मा के काव्य की यह भावना उनकी सहजप्रिय और बोध-गम्य पीड़ा भी हो सकती है, जो गीतों को, शैली के अमर शब्दों में, मीठा बनाती है, किन्तु हमें मानना होगा कि आधुनिक हिन्दी काव्य का निराशा-वाद युग-धर्म से प्रेरित होकर संक्रान्ति-कालीन समाज की वेदना भी व्यक्त करता है।

'रश्मि' के गीतों में यह दुःख पतिंगे के समान जल-जल उठता है। इस दुःख की अभिव्यक्ति में एक अधीरता, आतुरता और अस्थिरता-सी है :

'मृग मरीचिका के चिर पथ पर,
सुख आता प्यासों के पग धर,
रुद्ध हृदय के पट लेता कर

'नीरजा' और 'सान्ध्य-गीत' में यह दुःखवाद शान्त, स्निग्ध और कोमल रूप धारण कर चुका है। आप कहती हैं :

'मुखर पिक ? हौले बोल,
हठीले हौले हौले बोल !'

आपका दुःखवाद यहाँ नीरज में बन्द भौंरे के समान केवल मन्द, मधुर, मत्त गुञ्जन कर रहा है। 'सान्ध्य गीत' के वक्तव्य में आप लिखती हैं—'दुःखातिरेक की अभिव्यक्ति आर्त्त क्रन्दन या हाहाकार द्वारा भी हो सकती है, जिसमें संयम का नितान्त अभाव है, उसकी अभिव्यक्ति नेत्रों के सजल हो जाने में है, जिसमें संयम की अधिकता के साथ आवेग के भी अपेक्षाकृत संयत हो जाने की सम्भावना रहती है, उसका प्रकाशन एक

दीर्घ निःश्वास में भी है, जिसमें संयम की पूर्णता भावातिरेक को पूर्ण नहीं रहने देती, और उसका प्रकटीकरण निस्तब्धता द्वारा भी हो सकता है जो निष्क्रिय बन जाती है। वास्तव में गीत के कवि को आर्त्त क्रन्दन के पीछे छिपे हुए संयम से बाँधना होगा तभी उसका गीत दूसरे के हृदय में उसी भाव का उद्रेक करने में सफल हो सकेगा।'

इस वक्तव्य की सहायता से हम आपके दुःखवाद का इतिहास समझ सकेंगे। क्रन्दन, सजल नयन, दीर्घ निःश्वास, फिर निःस्तब्धता—यह आपके विकास का स्वाभाविक क्रम है।

दीपशिखा के गीतों में भाषा मोती के समान स्वच्छ और निर्मल है, उसके शब्द-चित्र अनायास ही हृदय मथ डालते हैं। किन्तु इस प्रौढ़ काव्य-प्रेरणा के पीछे किसी प्रबल झंझावात का अनुभव भी अवश्य है।

हम श्रीमती महादेवी वर्मा के काव्य को एक अनोखी चित्रशाला के रूप में भी देख सकते हैं। आपके छन्द अधिकतर शब्द-चित्र हैं। आपकी अलंकृत भाषा और प्रकृति-साधना शब्द-चित्रों में ही व्यक्त हुई है। आपके विचारों की अभिव्यक्ति सहज ही रूपक में होती है, क्योंकि आपकी अन्तरात्मा काव्यसिक्त है :

'नयन की नीलम-तुला पर मोतियों से प्यार तोला ;
कर रहा व्यापार कब से मृत्यु से यह प्राण भोला !'

प्रकृति-बाला के अगणित, अनुपम चित्र आपकी कविता में हैं। इनमें निरीक्षण की मात्रा कम हो सकती है, किन्तु चिन्तन की नहीं। ये चित्र कल्पना-प्रधान हैं। हम आपके प्रकृति-चित्र को एक विशाल तम के पट-रूप में देखते हैं और उस पटभूमि पर झिलमिलाते तारकदीप हैं, अथवा चाँदनी की स्मित हँसी, क्योंकि अँधेरा ही आपको प्रिय है :

'करुणामय को भाता है
तम के परदों में आना,

हे नभ की दीपावलियो !
तुम पल भर को बुझ जाना ।'

किन्तु,

'तममय, तुषारमय कोने में
छेड़ा जब दीपक-राग एक,
प्राणों-प्राणों के मन्दिर में
जल उठे बुझे दीपक अनेक !'

आपकी चित्रशाला में प्रकृति के अनेक रेखा-चित्र दृढ़, सुष्ठु रेखाओं में अंकित हैं :

'कनक-से दिन, मोती-सी रात,
सुनहली साँझ, गुलाबी प्रात ;
मिटाता रँगता बारम्बार,
कौन जग का यह चित्राधार ?
शून्य नभ में तम का चुम्बन,
जला देता असंख्य उडुगन ;
बुझा क्यों उनको जाती मूक
भोर ही उजियाले की फूँक ?
गुलालों से रवि का पथ लीप
जला पश्चिम में पहला दीप,
विहँसती संध्या भरी सुहाग,
दृगों से झरता स्वर्ण - पराग ;
उसे तम की बढ़ एक झकोर,
उड़ाकर ले जाती किस ओर ?'

तम के झकझोरों से अपने क्षीण दीपक को अंचल में ढाँपकर बचाने का प्रयत्न कर रही रजनी-बाला—किसी अनन्त परीक्षा में लीन—प्रकृति का यह रूप आप निरन्तर देखती हैं ।

श्रीमती महादेवी वर्मा के गीतों का एक बड़ा आकर्षण उनकी किन्हीं अनमोल साँचों में गढ़ी भाषा है। भाषा की दृष्टि से आप आज हिन्दी के किसी भी कवि से आगे हैं। पन्तजी की भाषा क्लिष्ट और संस्कृत-भार से आक्रान्त है; 'निराला' के शब्दों में अबाध वेग अवश्य है, किन्तु उनकी भाषा में पच्चीकारी नहीं। अन्य कवियों में इस प्रकार चुन-चुनकर मोतियों की जड़ाई नहीं मिलती। भगवतीचरण वर्मा और 'बच्चन' सर्वसाधारण की भाषा के अधिक निकट हैं। किन्तु इस मधुर निर्झरिणी का मदिर कल-कल निनाद अद्वितीय है। यह शब्दों की शिल्पकला आपकी अपनी विशेषता है।

यह भाषा अलंकार-भार से झुकी अवश्य है, किन्तु बड़े चतुर शिल्पी की यह कला-चातुरी हैं। एक-एक शब्द चुन-चुनकर इस शिल्पी ने सजाया है :

> 'दुख से आविल, सुख से पंकिल ;
> बुद्बुद् से स्वप्नों से फेनिल—'

'युग-युग से अधीर' कवयित्री की भाषा है। आपके अधिकतर शब्द अमिश्रित संस्कृत से निकले हैं और आपकी ध्वनियाँ सदैव कोमल हैं। हिन्दी-काव्य-परम्परा में बिहारी, देव, केशव और मतिराम इसी श्रेणी के शिल्पी थे। शब्दों के इस मदिर आसव से बेसुध पाठक ध्वनि-चमत्कार में लीन रह जाता है। इन शब्द-चित्रों के पीछे क्या है, वह नहीं पूछता।

महादेवी वर्मा की कविता भावना और कल्पना-प्रधान है। कोई निर्मम बुद्धिवाद इस काव्य की पटभूमि नहीं। कुछ खोजते हुए का भाव निरन्तर इस कविता में है। तड़ित् के समान एक शब्द या वाक्य का आलोक इस काव्याकाश में पल-भर के लिए हो जाता है, फिर वही गहन-तम अँधेरा; और क्षीण दीपक की जुगनू-सी ज्योति में किसी अनजाने प्रिय-तम की खोज और प्रतीक्षा। चिर-विरह और निराशा ही इस काव्य के

प्राण और आधार हैं, किन्तु चिर-मिलन का भाव भी अनायास ही गीत में पुलक उठता है :

'तुम मुझमें प्रिय! फिर परिचय क्या
रोम - रोम में नन्दन पुलकित ;
साँस - साँस में जीवन शत - शत ;
स्वप्न - स्वप्न में विश्व अपरिचित ;
मुझमें नित बनते मिटते प्रिय !
स्वर्ग मुझे क्या, निष्क्रिय लय क्या ?'

'रश्मि' में आप कहती हैं :

'मैं तुमसे हूँ एक, एक हैं
जैसे रश्मि प्रकाश ;
मैं तुमसे हूँ भिन्न, भिन्न ज्यों
घन से तड़ित् विलास।'

इस भावना को हम महादेवी का रहस्यवाद कह सकते हैं। साधक की चिर-खोज से निरन्तर यह काव्य आप्लावित है :

'पथ देख बिता दी रैन
मैं प्रिय पहचानी नहीं !
तम ने धोया नभ - पंथ
सुवासित हिमजल से ;
सूने आँगन में दीप
जला दिये झिलमिल से ;
आ प्रात बुझा गया कौन
अपरिचित, जानी नहीं
मैं प्रिय पहचानी नहीं !'

चिर अतृप्ति की प्यास से यह काव्य आक्रान्त है :

'तुम्हें बाँध पाती सपने में
तो चिर जीवन प्यास-बुझा
लेती उस छोटे क्षण अपने में !'

इस अनन्य साधना के बाद कवयित्री ने यह निष्कर्ष निकाला है कि मोम के समान गल-गलकर ही साधक जीवन सार्थक करता है और अपने प्रिय से मर मिटने में ही चिर-मिलन की निद्रा है :

'तम में हो चल छाया का क्षय ;
सीमित की असीम में चिर लय ;
एक हार में हों शत - शत जय ;
सजनि ! विश्व का कण-कण मुझको
आज कहेगा चिर सुहागिनी ।'

इस प्रकार जहाँ आपकी कविता का एक छोर आधुनिक छायावाद को छूता है, दूसरा हिन्दी के भक्त और रहस्यवादी कवियों की काव्य-परम्परा को भी । आप हमारी परम्परागत काव्य-साधना को नई रूप-रेखा देकर आगे बढ़ाती हैं :

'है युगों की साधना से
प्राण का क्रन्दन सुलाया ;
आज लघु जीवन किसी
निःसीम प्रियतम में समाया !'

किन्तु समाज की व्यवस्था पर जो आघात शुरू के गीतों में था, वह बीच में दूर हो गया था और आत्म-विस्मरण का भाव ही उनके काव्य का प्रधान गुण था । आपका काव्य बहिर्जगत् की विषमता भूलकर ब्रह्म में निलय होना चाहता था, किन्तु केवल अहम् के चतुर्दिक् चक्कर काटकर आपकी प्रेरणा को संतोष न मिल सकता । 'बंग-दर्शन' उसको बाह्य जगत् की ओर लाया है ।

गोदान

(१)

साहित्यिक प्रेमचन्द का कोई क्रमबद्ध विकास न हुआ। 'सेवासदन' और 'सप्त-सरोज' की सफलता वह बहुत दिन तक न दुहरा सके। 'प्रेमाश्रम' सजीव कृति थी; 'गोदान' 'प्रेमाश्रम' की और भी याद दिला रहा है। दोनों के वातावरण में कुछ समानता अवश्य है : ग्राम्य-जगत् दुखी, दारिद्रय-पूर्ण, भविष्य की ओर आशा से देखता हुआ। 'रंग-भूमि' में प्रेमचन्द ने अपनी सामर्थ्य से बाहर कार्य उठाया। सभी महान कलाकार एक बार ऐसा बीड़ा उठाते हैं। थैकरे (Thackeray) का "Vanity Fair" ऐसा ही विफल प्रयास है। सम्पूर्ण जीवन की गुत्थियाँ कोई एक उपन्यास में कैसे सुलझा दे? यदि इस प्रयास में प्रेमचन्द सफल हो जाते, तो विश्व-साहित्य के आधे दर्जन महान कलाकारों में उनका नाम होता। 'कायाकल्प' में प्रेमचन्द की कला ने पल्टा खाया, यद्यपि इसके भी अनेक भागों में वही चिर-परिचित रस और सजीवता है। फिर प्रेमचन्द उठते ही गये। 'निर्मला', 'कर्मभूमि', 'ग़बन'—और अब 'गोदान'। 'कायाकल्प' के बाद उन्होंने फिर पीछे मुड़कर नहीं देखा।

'गोदान' का स्थान प्रेमचन्द की कृतियों में बहुत ऊँचा होगा। 'गोदान' लिखने में प्रेमचन्द की कला पूर्णरूप से जाग्रत थी। घटनाओं पर, मानव-चरित्र पर वही अटल अधिकार था। भाषा में कुछ और भी रस और कविता का आभास आ गया है। ग्राम्य-जीवन के प्रति कुछ अधिक उल्लास दीखा। जैसे हिन्दी की नवीन काव्य-धारा में वे भी रँग गये हों!

'फागुन अपनी झोली में नव-जीवन की विभूति लेकर आ पहुँचा था। आम के पेड़ दोनों हाथों से बौर की सुगन्ध बाँट रहे थे, और कोयल आम की डालियों में छिपी हुई संगीत का गुप्त दान कर रही थी।' (पृष्ठ ३४८)

और

'महुए की डालियों पर मैनों की बरात-सी लगी बैठी थी। नीम और सिरस और करौंदे अपनी महक में नशा-सा घोले देते थे।' (पृष्ठ ४०६)

'गोदान' ग्रामीण-जीवन का चित्र है। प्रेमचन्द आरम्भ से ही ग्रामीणों के कलाकार रहे हैं। अपने जीवन तक को उन्होंने ग्रामीणता में रँग डाला था। भारत के ग्राम ही देश की प्राचीन विभूति हैं। किन्तु यहाँ कितनी निर्धनता, दुःख और पीड़ा है?

प्रेमचन्दजी के दृष्टि-कोण पर महात्मा-गांधी का विशेष प्रभाव पड़ा था। प्रेमचन्द ने राष्ट्रीय आन्दोलन का वास्तविक रूप कला में अमर किया है।

नगर में विलास है, श्री है, पाप है—ग्राम में सरलता है, महत्ता है, दुःख है। प्रेमचन्द ग्राम की ओर मुख मोड़े भारत के आधारभूत प्रश्न सुलझा डालना चाहते हैं।

शरत् बाबू ने भी अपने 'पल्ली समाज' में ग्रामीण-जीवन का दिग्दर्शन कराया है। उनका निष्कर्ष कुछ और ही है। ग्रामों में अनाचार, पाप, क्रूरता, कुटिलता, धूर्तता भरी पड़ी है। यदि इस मृतक-समाज का शीघ्र ही शवदाह न हुआ, तो इसके विष से चारों ओर ही काल के कीटाणु फैल जायेंगे।

शरत् बाबू ने विशेष करके मध्यम श्रेणी के मनुष्यों का वर्णन किया है। प्रेमचन्द निम्न वर्ग के कलाकार और शिल्पी हैं। चरित्र-चित्रण में प्रेमचन्द कुशल हैं, किन्तु शरत् बाबू के पात्र बढ़कर आकाश तक पहुँचते-से लगते हैं। 'गोदान' में उस जोड़ का केवल 'होरी' है।

'गोदान' में ग्राम-जीवन के अनेक सुन्दर चित्र हैं, (पृष्ठ ४६६, ५०७ आदि)। उपन्यास का आरम्भ ही एक ऐसे चित्र से हुआ है। होरी और भोला दोनों ही स्वभाव के सीधे हैं। किन्तु दोनों ही एक दूसरे से पराजित होते हैं। पहला परिच्छेद तो एक सुन्दर गल्प है। ग्रामीणों के झगड़े भी खूब होते हैं, (पृष्ठ ६६)। छोटे कर्मचारी किस प्रकार ग्राम का शासन

करते हैं, इसके अगणित उदाहरण 'गोदान' में मिलेंगे।

किन्तु प्रेमचन्द का विशेष गुण है ग्रामीण स्वभाव की अचूक सूझ। भविष्य में भारतीय ग्रामों का इतिहास इनके उपन्यास और कहानियों से पढ़ा जायगा।

(२)

पाश्चात्य देशों के उपन्यासकार सफल कहानी-लेखक नहीं होते। 'प्लाट' पर उनका कुछ अधिकार ही नहीं होता। Dickens, Scott, Victor Hugo, Balzac तक इस विषय में दोषी हैं। उनके उपन्यासों का गौरव उनके पात्र होते हैं।

किन्तु कहानी का जन्म पूर्व में ही हुआ, अलिफ़लैला, पञ्चतन्त्र, हितोपदेश, कथा सरित्-सागर आदि।

रवि बाबू और शरत् बाबू दोनों ही चतुर कहानी-लेखक हैं। कथानक सहज ही ग्रीष्म की नदी की भाँति अविरल धारा से बहता है।

इसी प्रकार प्रेमचन्द भी कथा के अवयवों को किसी चीनी पहेली की भाँति उलझा सुलझा सकते हैं।

'गोदान' में भी कथा का स्रोत अविरल है। किसी भी एक घटना में पड़कर प्रेमचन्द खो-से जाते हैं। फिर बहुत दूर जाकर कथा का पहला छोर स्मरण कर उठाते हैं।

कभी-कभी भूल भी कर बैठते हैं। मिल जल जाने पर खन्ना तबाह हो गये (पृष्ठ ५१४), यह भूलकर प्रेमचन्द लिख जाते हैं कि मिल में अब भी खन्ना की ही चलती है (पृष्ठ ५४०)। एक बार लिखा है कि सिलिया का बालक दो वर्ष का हो रहा है—सारे ग्राम में दौड़ लगाता है (पृष्ठ ५७६)! चार पृष्ठ बाद ही लिखा कि वह कुछ-कुछ बैठने लगा था (पृष्ठ ५८३)।

किन्तु ऐसी भूलों का कुछ मूल्य नहीं। शेक्सपियर के भी नाटक अनेक छोटी-छोटी भूलों से भरे पड़े हैं।

कथा के ऊपर प्रेमचन्द का पूरा अधिकार है। कभी ग्राम में, कभी नगर में, बड़े-बड़े रईसों में, दीन-दुखियों में, उनकी कल्पना स्वच्छन्द चक्कर लगाती है।

'गोदान' की कथा का क्या यही अन्त है? होरी की जीवन-लीला का अवश्य यह अन्त है। किन्तु यहीं क्यों, और आगे क्यों नहीं? अभी तो उनकी कल्पना सजीव थी। क्या मृत्यु का सन्देश पाकर स्वयं उनकी शक्तियाँ ढीली पड़ने लगी थीं? इसी प्रकार Galsworthy ने अपनी मृत्यु के पहले 'Over the River' लिखा था। Chesterton ने लिखा है कि Pickwick Papers के किसी ने कुछ पृष्ठ फाड़ लिये हैं—ऐसा बालकपन में उनका विश्वास था! अब भी वे उन पृष्ठों को ढूँढ़ रहे हैं। क्या 'गोदान' के पृष्ठ भी काल ने फाड़ लिये? अब भी किसी कल्पना के जग में मेहता, मालती, गोबर, सिलिया आदि क्रीड़ा कर रहे होंगे।

Galsworthy ने एक बार Oxford में अपना वक्तव्य देते हुए बताया था कि किस प्रकार उनकी कथा आगे बढ़ती है। वे एक आराम-कुर्सी पर कागज़ लेकर बैठते हैं। मुँह में 'पाइप' रखते हैं। फिर उनकी कल्पना जाग्रत हो उठती है। उनका व्यक्तित्व पात्रों में खो जाता है। वह सोचते हैं, अब सोम्ज़ (Soames) उठता होगा....।

यही शायद प्रेमचन्द की कल्पना की भी गति है। होरी के विचारों में वे तन्मय-से हो जाते हैं (पृष्ठ ५४)। गोबर के मन में सावन के बादलों की भाँति विचार उमड़ पड़ते हैं (पृष्ठ २७८)।

इस शैली को अब चेतना की धारा (Stream of Consciousness) कहने लगे हैं। पाश्चात्य उपन्यास-कला में यह कथानक, पात्र आदि सबको ले डूबी है।

मनोविज्ञान के प्रेमचन्द भी कुशल आचार्य हैं। इस प्रकार की टेकनीक में अच्छे कलाकारों से प्रेमचन्द की तुलना हो सकती है।

(३)

'गोदान' एक प्रकार से 'होरी' की जीवन-कथा है। उसकी मृत्यु होते ही मंच पर पटाक्षेप हो गया। कथानक का तार उसी के चारों ओर लिपटा है—जैसे रेशम के कीड़े के चतुर्दिक् रेशम।

'होरी' का स्थान भारतीय साहित्य में ऊँचा होना चाहिए। वह जीता-जागता व्यक्ति है। उसके विषय में प्रेमचन्द कह सकते हैं कि 'होरी' पर उनका कुछ वश नहीं; वे स्वयं उसके वश में हैं।

प्रेमचन्द के पात्र रक्त-मांस के व्यक्ति होते हैं, कठपुतली नहीं। टैसो (Tasso) ने कहा था कि ईश्वर के समान कवि भी स्रष्टा है।

प्रेमचन्द के पात्र गतिशील होते हैं; स्थिर नहीं; जैसे मालती, मातादीन, खन्ना। 'बड़े घर की बेटी' लिखते समय जो उनकी लेखनी में चमत्कार था, वह निरन्तर बना रहा।

शायद मध्य-वर्ग और उच्च-वर्ग के पात्रों में प्रेमचन्द उतनी सफलता न पा सके। इनको हम विलासी और अकर्मण्य ही पाते हैं। स्त्री का मन भी सदैव प्रेमचन्द नहीं समझ सके। प्रेम के दृश्य तो उनके अधिकतर असफल हैं। किन्तु ग्रामीण किसान का हृदय भारत में प्रेमचन्द के बराबर कौन समझ सका है? उदाहरण के लिए लीजिए, होरी, भोला, गोबर, धनिया, सिलिया!

होरी में अनेक अवगुण हैं, किसान की स्वार्थपरता, रसिकता, लोभ। अपने भाइयों को धोखा देकर वह बाँस के रुपये खा जाना चाहता है; किन्तु स्वयं धोखा खाता है। यदि प्रेमचन्द उसे आदर्श और अवगुण-रहित बना देते, तो होरी का कला की दृष्टि से इतना महत्त्व न होता। ऐसे निर्दोष जीव पृथ्वी पर नहीं होते।

पहले परिच्छेद में ही वह भोला को ठगना चाहता है; किन्तु उसकी उदारता उसके स्वार्थ पर विजय पा लेती है।

जितने त्याग से यह ग्रामीण दम्पति झुनिया, सिलिया और पुनिया का

निर्वाह करते हैं, वह बड़ों-बड़ों के लिए आदर्श-स्वरूप है।

होरी रसिक भी है, भावुक भी। सहुआइन से भी छेड़-छाड़ कर लेता है। गाय के लिए कितना व्याकुल हो जाता है! ग्राम्य-जग में वसन्त-श्री देखकर गुनगुना उठता है—

'हिया जरत रहत दिन-रैन।

आम की डरिया कोयल बोलै तनिक न आवत चैन॥'

ग्रे (Gray) की कविता का स्मरण हो आता है कि यही व्यक्ति समाज का सहारा पाकर क्या हो सकते थे! अब तो जीवन की 'हल्दीघाटी' में उन्होंने सब कुछ खोकर अपनी मान-मर्यादा, और उदारता बचा ली, यह उनकी भारी विजय है।

दातादीन, नोखेराम, पटेश्वरी, झिंगुरी आदि गृद्ध की भाँति इस कृषक-समाज के शव को चारों ओर से नोचे खाते हैं।

मातादीन का चरित्र कला की दृष्टि से सुन्दर है। यह निर्मम, कठोर, स्वार्थी, लोलुप युवक धीमे-धीमे बदलकर सिलिया का तप सफल कर देता है।

गोबर अल्हड़, सीधा—नगर के प्रकाश से आकर्षित होकर उधर दौड़ता है; किन्तु हाथ कुछ भी नहीं लगता। पतिंगे के समान उसका नशा भी शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।

ग्राम के स्त्री-समाज के कुछ अच्छे चित्र उतरे हैं। धनियाँ, झुनिया, सिलिया। बादाम की भाँति धनिया ऊपर से कठोर, पर हृदय की कोमल। झुनिया समाज की दुर्व्यवस्था का शिकार। सिलिया जाति की चमार होने पर भी आदर्श नारी।

यह ग्राम की स्त्रियाँ लड़ती भी ख़ूब हैं। धनिया और पुनिया का महासमर। फिर धनिया और झुनिया का। जब रण-चण्डी हुङ्कार कर उत्तेजित होती है, तो दारोग़ाजी तक के देवता भागते हैं।

किन्तु प्रेमचन्द के पात्रों के नाम कैसे विचित्र हैं! धनिया, पुनिया,

गोबर ! गाँव के अनुरूप ही यह सब नाम हैं ।

जिस प्रकार झुनिया गोबर से और मालती मेहता से प्रेम (पृ० ७२) की बातें करती हैं, वह अस्वाभाविक (पृ० १३०) लगता है । इस देश और समाज में स्त्री इस प्रकार अपना संकोच नहीं त्यागती ।

मध्य-वर्ग से प्रेमचन्द को कुछ सहानुभूति नहीं । यहाँ उन्हें खन्ना, तन्खा और राय साहब ही अधिक मिलते हैं । मिर्ज़ा ख़ुर्शेद कम । केवल ख़ुर्शेद ही परीक्षा में पूरे उतरते हैं । उनके मन की उदारता और ज़िन्दा-दिली कभी नहीं खोती ।

मेहता मनुष्य नहीं, आदर्श व्यक्ति हैं । उनमें कुछ दोष ही नहीं । इसी प्रकार रिचर्डसन (Richardson) ने एक बार (ग्रेण्डीसन) (Sir Charles Grandison) का चरित्र गढ़ा था । अभी तक उसको दानव (Monster) कहते हैं । मेहता की सृष्टि उस अनुभूति से नहीं हुई, जो होरी और भोला को सजीव बना देती है ।

स्त्री-आन्दोलन पर मेहता के विचार रूढ़ि-बद्ध हैं । किन्तु जिस प्रकार वह मालती की परीक्षा लेते हैं, वह अपमानजनक और अमानुषिक है ।

मध्य-वर्ग की स्त्रियों में मिसेज़ खन्ना और मालती दो के ही पूरे चित्र हैं । मिसेज़ खन्ना प्राचीन आदर्शों पर गढ़ी हैं । धीरे-धीरे मेहता के कारण मालती भी उसी ओर झुक जाती है ।

मालती को उत्तेजित करने के लिए कथानक में प्रेमचन्द एक जङ्गली लड़की को लाते हैं । यह झाँकी सुन्दर है । यदि आगे भी वह जङ्गली लड़की कथा में दीखती, तो पाठक कृतार्थ होते; किन्तु प्रेमचन्द उसको भूल गये । यह घटना कथानक से फिर सम्बद्ध न हुई ।

क्या कोई स्त्री ईर्ष्यावश भी ऐसी संकोच-रहित बातें कह सकती है, जैसी मालती ने कहीं ? (पृ० १३८) कभी-कभी मन में सन्देह उठता है कि प्रेमचन्द स्त्री-हृदय समझते भी हैं या नहीं ।

इस वातावरण में सोना और रूपा के उपहार के लिए हम प्रेमचन्द

के कृतज्ञ हैं। इस कलह और पीड़ा-भरे संसार में इस रूप के अनुपम दर्शन से नेत्र कृतार्थ हुए। इस बाल-सुलभ सरलता और चपलता में सुधा का-सा रस है।

(४)

जीवन के प्रति प्रेमचन्द का दृष्टिकोण क्या है? जान-बूझकर अथवा अनजाने में ही कलाकार अपने युग और संसार के लिए एक सन्देश लाता है। उसकी कृति में वह निहित होता है।

हमारे समाज की, विशेषकर ग्रामीण समाज की व्यवस्था ग़लत है। जो ग़रीब हैं, वे और भी ग़रीब होते जा रहे हैं; जो अमीर हैं, वे और भी अमीर। किसान कर्ज़ के बोझ से पिसा जा रहा है। जो समाज के स्तम्भ हैं, उनमें कूट-कूटकर दुराचार, कठोरता, लोभ और कपट भरे हैं। हरिजनों पर समाज का क्रूर शासन है। नगरों में विलास और विनोद है—सौन्दर्य और स्वच्छता नहीं। ग्राम में ही प्रकृति ने पूरा साज सजा है। ग्राम की ओर लौटो, प्राचीन आदर्शों की ओर लौटो। स्त्री गृह-देवी हों; पुरुप बलवान और निष्ठावान हों। ऐसा कुछ प्रेमचन्द का सन्देश है।

प्रेमचन्द की फ़िलॉसफ़ी वास्तविकता के विपरीत है। शायद प्रेमचन्द ग्राम्य-जीवन का उद्धार चरित्रवान और उदार-हृदय कर्मचारियों में देखते हैं। किन्तु व्यक्ति के हृदय-परिवर्तन से क्या समाज का त्राण हो सकेगा?

इस रोग की दवा कुछ भी हो, रोग प्रेमचन्द ख़ूब समझते हैं। उपचार भी कुछ-न-कुछ निकलेगा ही।

शायद मेहता का दृष्टिकोण प्रेमचन्द का स्वयं अपना भी है; मेहता को वह जितना आदर्श बना सके हैं, उन्होंने बनाया है:

'सब कुछ पढ़ चुकने के बाद और आत्मवाद तथा अनात्मवाद की ख़ूब छान-बीन कर लेने पर, वह इसी तत्त्व पर पहुँच जाते थे कि प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों के बीच में जो सेवा-मार्ग है चाहे उसे कर्मयोग ही कहो, वही जीवन को सार्थक कर सकता है, वही जीवन को ऊँचा और पवित्र

बना सकता है। किसी सर्वज्ञ ईश्वर में उनका विश्वास न था। यद्यपि वह अपनी नास्तिकता को प्रकट न करते थे, इसलिए कि इस विषय में निश्चित रूप से कोई मत स्थिर करना वह अपने लिए असम्भव समझते थे; पर यह धारणा उनके मन में दृढ़ हो गई थी कि प्राणियों के जन्म मरण, सुख-दुःख, पाप-पुण्य में कोई ईश्वरीय विधान नहीं है। उनका ख़याल था कि मनुष्य ने अहंकार में अपने को इतना महान बना लिया है कि उसके हर-एक काम की प्रेरणा ईश्वर की ओर से होती है। इसी तरह वह टिड्डियाँ भी ईश्वर को उत्तरदायी ठहराती होंगी, जो अपने मार्ग में समुद्र आ जाने पर अरबों की संख्या में नष्ट हो जाती हैं....। (पृष्ठ ५१५)

(५)

प्रेमचन्द का उनकी भाषा के कारण सर्वत्र मान हुआ। उनकी भाषा सरल, स्वाभाविक, मुहाविरेदार होती है। ग्राम्य-जीवन के वर्णन में उसमें एक नवीन स्फूर्ति आ जाती है। आजकल कुछ कलाकार भाषा में बनावटी सरलता लाने का प्रयत्न करते हैं। कुछ काव्यमय, दुरूह और जटिल तक हो जाते हैं। प्रेमचन्द की भाषा अब तक अपना स्वाभाविक पथ लिये थी। किन्तु इस बार उनकी भाषा में एक नया रस और यौवन आ गया है।

एक उदाहरण लीजिए—'वैवाहिक जीवन के प्रभात में लालसा अपनी गुलाबी मादकता के साथ उदय होती है और हृदय के सारे आकाश को अपने माधुर्य की सुनहरी किरणों से रंजित कर देती है। फिर मध्याह्न का प्रखर ताप आता है, क्षण-क्षण पर बगूले उठते हैं, और पृथ्वी काँपने लगती है। लालसा का सुनहला आवरण हट जाता है, वास्तविकता अपने नग्न रूप में सामने आ खड़ी होती है। उसके बाद विश्राममय संध्या आती है, शीतल और शान्त; जब हम थके हुए पथिकों की भाँति दिन भर यात्रा का वृत्तान्त कहते और सुनते हैं, तटस्थ भाव से मानो हम किसी ऊँचे शिखर पर जा बैठे हैं, जहाँ नीचे का जन-रव हम तक नहीं पहुँचता।' (पृष्ठ ४६)

संस्कृत में कालिदास की उपमाएँ प्रसिद्ध हैं। रवि बाबू की कहानी या उपन्यास पढ़ने में उनकी उपमाओं का रस अपूर्व लगता है। उपमा से लेखक की पहुँच और कल्पना का पूरा अनुभव होता है।

'गोदान' में प्रेमचन्द की उपमाएँ और उनके रूपक पुस्तक का एक भारी महत्त्व हैं। मन में एकदम प्रकाश-सा कर देते हैं और कल्पना को उत्तेजित करते हैं।

होरी के घर जब अनाज पहुँचा—'रुकी हुई गाड़ी चल निकली, जल में अवरोध के कारण जो चक्कर था, फेन था, शोर था, गति की तीव्रता थी, वह अवरोध के हट जाने से शान्त, मधुर ध्वनि के साथ सम, धीमी, एकरस धार में बहने लगी।' (पृष्ठ २४६)

होरी ने सब कुछ खोकर 'हारे हुए महीप की भाँति अपने को इन तीन बीघे खेत के क़िले में बन्द कर लिया था और उसे प्राणों की तरह बचा रहा था।' (पृष्ठ ५८८)

× × ×

'गोदान' में प्रेमचन्दजी ने उत्कृष्ट कलाकार के सभी गुण दर्शाये हैं। उनकी शैली प्रौढ़ है। पात्र सच्चे और सजीव हैं। ग्राम्य-जीवन को वे ख़ूब समझते हैं। उनकी रचना में गम्भीरता है, सरसता भी है। 'कायाकल्प' के साथ जो उनकी कला का ह्रास हुआ था, उसका प्रतीकार उन्होंने 'कर्म-भूमि', 'ग़बन' और 'गोदान' में पूरी तौर से किया।

जैनेन्द्र : उपन्यासकार

तप-विह्वल, खद्दर-भूषित, अहंमन्यता में डूबे कलाकार की मूर्त्ति हमारे मन में उठती है। उसमें सरलता है, उत्साह है, लगन है, विचार-मौलिकता है। उच्च कलाकार के उसमें स्वाभाविक गुण हैं। कुछ ही वर्षों में उसने हिन्दी के कहानी-संसार में अपना स्थान सुरक्षित बना लिया। क्षितिज से उठकर वह नक्षत्र आकाश में ऊँचा पहुँच गया है।

अब तक उसके अनेक कहानी-संग्रह—'वातायन', 'एक रात', 'नीलम देश की राजकन्या' आदि और अनेक उपन्यास निकल चुके हैं—'परख', 'सुनीता', 'त्यागपत्र', 'कल्याणी', 'सुखदा' और 'विवर्त्त'। आज हम उसके व्यक्तित्व को भूलकर केवल उसके उपन्यासों की 'परख' करेंगे। 'सुनीता' की प्रस्तावना में उपन्यासकार ने लिखा ही है : 'पाठक पुस्तक में मुझे मुश्किल से पायेगा। यह नहीं कि मैं उसके प्रत्येक शब्द में नहीं हूँ, लेकिन पुस्तक के जिन पात्रों के माध्यम से मैं पाठक को प्राप्त होता हूँ, प्रत्येक स्थान पर पात्रों के अनुरूप मेरा रूप विकृत हो जाता है। उन्हें सामने करके मैं ओट में हो जाता हूँ। जैसे सृष्टि ईश्वर को छिपाये है, वैसे मैं भी अपने इन पात्रों के पीछे छिपा हुआ हूँ....'

इन शब्दों के पीछे जैनेन्द्र कलाकार के अनेक गुण छिपे हैं, सरलता, मौलिकता और शब्दों के आडम्बर को चीरता हुआ शॉ सरीखा उनका सुपरिचित अहंभाव।

जैनेन्द्र छोटा पट-चित्र पसंद करते हैं। दो-एक मानव-सूत्रों को लेकर ही वह गहरे से गहरे जाने का प्रयत्न करते हैं। 'परख' और 'सुनीता' के कथानक में एक प्रकार की समानता भी है। एक स्त्री के चारों ओर दो पुरुषों के जीवन-स्वप्न केन्द्रित हैं। कभी-कभी ऐसा अनुभव होता है कि जैनेन्द्र की कला उपन्यास-कला नहीं, वरन् गल्प-कला है, क्योंकि जीवन के किसी लघु अंश की विवेचना ही उन्हें अधिक पसन्द है। जैनेन्द्र मनुष्य के अन्तर्भावों के विश्लेषण में बहुत दूर तक जाते हैं और उनकी कला में हमें जीवन की जटिलता का भास होता है, इसी कारण उनको सफल उपन्यासकार कहा जा सकता है। कला का कोई एक स्थायी स्वरूप नहीं। युग और परिस्थिति के अनुसार उसके बाह्य रूप में परिवर्तन आ जाता है।

'सुनीता' की प्रस्तावना में जैनेन्द्र स्वयं कहते हैं : 'पुस्तक में मैंने कोई लम्बी-चौड़ी कहानी नहीं कही है। तीन-चार व्यक्तियों से ही मेरा काम

चल गया है। इस विश्व के छोटे-से-छोटे खण्ड को लेकर हम चित्र बना सकते हैं और उसमें सत्य के दर्शन पा सकते हैं। उसके द्वारा हम सत्य के दर्शन करा भी सकते हैं। जो ब्रह्माण्ड में हैं, वही पिण्ड में भी है। इसलिए अपने चित्र के लिए बड़े कन्वास की ज़रूरत मुझे नहीं लगी। थोड़े में सब कुछ को क्यों न दिखाया जा सके ?'

जैनेन्द्र का संसार मानो अँधियारे-आलोक से झिलमिल है। एक प्रकार का कुण्ठित, अवसाद भरा यहाँ का वायुमण्डल है। खुले ग्राम, खेत, हवा इस व्यथा-भार से दबे निम्न श्रेणी के मध्य वर्ग को नसीब नहीं। इस चित्रपट पर जैनेन्द्र के कठिन जीवन की स्पष्ट छाप है। 'सुनीता' में अवश्य हम कुछ खुली-सी हवा में साँस लेते हैं। नहीं तो 'परख' की काश्मीर-सुषमा में भी हर्ष और उल्लास का नाम नहीं। मध्य-वर्ग के डूबते प्राणी ही निरन्तर इस जग में तैरते-उतराते हैं। कट्टो का भग्न घर—जहाँ अधपकी जामुन पेड़ से अनायास ही पट-पट गिर पड़ती है; सत्य का 'दीवारों से घिरा' अँधेरा कमरा; सुनीता का सन्नाटे-भरा घर—जहाँ पिस्तौल का शब्द भी वायु में गूँजकर खो जाता है; प्रमोद की बुआ की कुण्ठित कोठरी—व्यथा-भार से दबे इस वायु-मंडल के बादल मानो अब बरसे, अब बरसे!

'सुनीता' में जो चित्र बनाने का प्रयत्न हरिप्रसन्न कर रहा है, वही जैनेन्द्र के हृदय की पीड़ा है। शब्दों में उसे व्यक्त करने का वे प्रयत्न कर रहे हैं। 'हिरन के पेट में जो गाँठ होती है, उसे कस्तूरी कहते हैं। उसको लिये लिये वह भ्रमता रहता है, बेचैन रहता है। उसके लिए वह शाप है। कस्तूरी हमारे लिए है, उसके लिए वह गाँठ है। यह चित्र हरिप्रसन्न के चित्त की गाँठ है।' यह शब्द जैनेन्द्र के लिए भी लागू हो सकते हैं।

जैनेन्द्र के प्लाट सीधे-सादे होते हैं। वे स्वयं ही कहते हैं: 'कहानी सुनाना मेरा उद्देश्य नहीं है।' वे मानव-स्वभाव की उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाने में लगे हैं। 'परख' में सत्यधन खोटे निकले। कट्टो से वचनबद्ध होकर भी वे सुख और वैभव की ओर ढुलक पड़े। शरत्चन्द्र

की 'अरक्षणीया' में यही चित्र भयंकर होकर दु:सह, दुखदायी हो जाता है। अरक्षणीया का अपने मुख पर वह टिकली और काजल लगाना कितना असह्य हो उठता है! 'सुनीता' और रवि बाबू के 'घरे-बाहिरे' में विद्वानों ने समता देखी है। एक स्त्री कुछ विचित्र ही ढङ्ग से दो मित्रों को पास लाती है और दूर करती है। 'सुनीता' का पूर्ववर्त्ती भाग उच्च और मँजी कला का नमूना है। पिछले भाग में कलाकार कथा का प्रवाह ठीक-ठीक निभा सकने पर भी अपने मंतव्य में अस्पष्ट है। यह भी कह सकते हैं कि वह अधिक गूढ हो गया है। 'त्याग-पत्र' अपने लक्ष्य की ओर अविराम और अचूक गति से गया है। भाग्य की-सी कठिनता और अनवरतता इसके कथानक में है। इस प्रबल प्रवाह का विराम जीवन की चट्टानों पर टकरा कर भग्न होने में ही है।

जैनेन्द्र के वस्तु-भाग में कलाकार बहुत सामने रहता है। हमारी आँखों की ओट नहीं रहता। निरन्तर वह अपने पात्रों के भावों का विश्लेषण करने में निमग्न है। 'परख' में अवश्य अनेक नाट्य-दृश्य हैं, जिनमें हम कहानीकार को भूल-से जाते हैं।

जैनेन्द्र के पात्रों में कुछ पुरुष और स्त्री विशेष उल्लेखनीय हैं। सत्यधन और बिहारी, श्रीकान्त और हरिप्रसन्न इस प्रकार आमने-सामने रखे गये हैं कि एक से दूसरे के चरित्र पर प्रकाश डाल सकें। जैनेन्द्र मनुष्यों का चित्रण करते हैं। देवता और दानवों में उन्हें विश्वास नहीं। 'परख' की भूमिका में आप लिखते हैं : 'सभी पात्रों को मैंने अपने हृदय की सहानुभूति दी है। जहाँ यह नहीं कर पाया हूँ, उसी स्थल पर समझता हूँ, मैं चूका हूँ। दुनिया में कौन है जो बुरा होना चाहता है—और कौन है, जो बुरा नहीं है, अच्छा ही अच्छा है? न कोई देवता है, न पशु। सब आदमी ही हैं, देवता से कम और पशु से ऊपर।'

फिर भी हमें जैसे लगता है कि सत्यधन अपने आदर्श से गिर गये, जीवन की 'परख' में पूरे नहीं उतरे और बिहारी कुछ अपने से भी ऊँचा

उठ गया। सत्यधन की भाँति ही 'परिणीता' में शेखर अपने वचन से डिगकर पथभ्रष्ट हो गया था। दूर आलोक देखकर पतिंगे के समान वह उधर ही ढुल पड़ा। बिहारी का चरित्र कट्टो ने ख़ूब समझा है :

'तुममें तो कुछ समझने को है ही नहीं। जो बाहर है, वही भीतर है। भीतर भी वही विनोद का झरना झरता रहता है, जिसका आधा जल आँसू का और आधा हँसी का है, और जिसमें से हर बात आर-पार दिखाई देती है।'

श्रीकान्त और हरिप्रसन्न भी इसी प्रकार एक-दूसरे की स्निग्ध सौम्यता और उग्र तेजस्विता को और भी गहरी दिखाते हैं। श्रीकान्त हमको बंगाल के अमर कलाकारों का अपने नाम के अतिरिक्त भी और कारणवश स्मरण दिलाता है। उसके चरित्र में वही गम्भीर सरलता है, जो हमें बड़े साहित्य के पात्रों में मिलती है। हरिप्रसन्न अग्नि के समान प्रखर और प्रचण्ड है। गोरमोहन का उसे सूक्ष्म रूप समझना चाहिए। क्रान्ति के युग का वह प्रतिनिधि है। वह कहता है : 'आज और कल के बीच में बन्द हम नहीं रहेंगे। शाश्वत को भी छुएँगे। सनातन और अनन्त को भी हम चखेंगे। तुमने बनी-बनाई राह सामने कर दी है। वह हमें कुछ भी दूर नहीं ले जाती। हमारा मार्ग अनन्त है और यह तुम्हारी राह अपनी समाप्ति पर सन्तुष्ट पारिवारिक जीवन देकर हमें भुलावे में डाल देती है।'

इन पात्रों के चित्रण में कठोर मनोवैज्ञानिक सत्य है। इनका स्थान हमारे साहित्य में चिर-स्मरणीय होगा। जैनेन्द्र के स्त्री-पात्र कुछ और भी रहस्यमय और गहन हैं। जैनेन्द्र ने यह मान लिया कि स्त्री एक अ-बूझ पहेली है। उनकी स्त्री-पात्रा ऐसे व्यापार कर डालती हैं, जो सहज बुद्धि से समझ में नहीं आते।

कट्टो उनकी स्त्री-पात्रों में पहेली होती हुए भी गम्भीरता लिये है। बड़ी भावुकता से जैनेन्द्रजी ने 'परख' कट्टो को समर्पित किया है :

'मेरी कट्टो, तुमने कुछ नहीं लिया—यह तो ले लो। यह तुम्हारे ही

लिए है। देखो, इन्कार न करो, टालो मत। अपने को तुमने विधवा ही रखा, इसको सधवा बना दो। अपने चरणों में आने दो।....' रवि बाबू ने अपनी एक कहानी में पुराने भारतीय कारीगरों का वर्णन किया है। वे तलवार के एक ही वार में फल ऐसा काट देते थे कि दो टुकड़े होकर भी वह एक-सा लगता था, जब तक कोई उसे हिलाये-डुलाये नहीं। कट्टो के जीवन में हँसी, खेल, विनोद इसी प्रकार भरा था, किन्तु पीड़ा के एक ही प्रहार ने उसका विनोद जीवन से काटकर अलग कर दिया। कट्टो का चरित्र जैनेन्द्र-साहित्य का एक उज्ज्वल नक्षत्र है। न जाने कहाँ से उसमें इतनी समझ, गम्भीरता और बलिदान-शक्ति आ गई !

'सुनीता' रहस्यमयी है। उसको समझना कठिन है। किन्तु हमारी पूरी सहानुभूति उसके साथ है। नवीनता की खोज के आक्षेप से अपने को बचाते हुए जैनेन्द्र ने कहा था कि 'सुनीता' में भारतीय स्त्री का सतीत्व पराकाष्ठा को पहुँच गया है। कोई भी बलि उसकी शक्ति के बाहर नहीं। श्रीकान्त उससे कह गये थे कि हरिप्रसन्न को रोकना ही होगा। उसे रोकने के लिए सुनीता ने अपने सतीत्व तक की बाज़ी लगा दी। स्फ़िक्स (Sphinx) के समान रहस्यमयी इस नारी के मन में न जाने क्या पीड़ा-मिश्रित भाव छिपे हैं ! लौह तीली के समान वह कठिन है और कितनी भी झुक जाने पर नहीं टूटती।

'त्याग-पत्र' केवल एक स्त्री—मृणाल अथवा प्रमोद की बुआ—की जीवन-कथा है। गहरा और कठिन अवसाद मृणाल के मन पर जमा है। भारतीय परिवार की कड़वी और सच्ची आलोचना 'त्याग-पत्र' में है। यह आलोचना सुनने और समझने का साहस सबमें होता भी नहीं। मृणाल की विचार-धारा शायद हम न ठीक-ठीक समझें, किन्तु कितना अभिमान और आत्म-सम्मान उसके मन में है ? कट्टो और सुनीता से भी अधिक वह हमारे मन को विचलित और व्यथित कर देती है।

जैनेन्द्र हिन्दी के क्रान्तिकारी लेखक हैं। रूढ़ियों पर उन्होंने कठिन

प्रहार किये हैं। किसी सरल, स्वच्छ, आकर्षक जीवन की खोज में वह निरत हैं। किन्तु शायद उन्हें इस अँधियारे में अपना पथ स्पष्ट नहीं सूझता। 'मन में एक गाँठ-सी पड़ती जाती थी। वह न खुलती थी, न घुलती थी। बल्कि, कुछ करो, वह और उलझती और कसती ही जाती थी। जी होता था, कुछ होना चाहिए, कुछ करना चाहिए। कहीं कुछ गड़बड़ है। कहीं क्यों, सब गड़बड़ ही गड़बड़ है। सृष्टि ग़लत है समाज ग़लत है, जीवन ही हमारा ग़लत है। सारा चक्कर यह ऊटपटाँग है। इसमें तर्क नहीं है, संगति नहीं है, कुछ नहीं है। इससे ज़रूर कुछ होना होगा, ज़रूर कुछ करना होगा। पर क्या-आ? वह क्या है, जो भवितव्य है और जो कर्तव्य है?'

अथाह सागर की भाँति जीवन हमारे सामने हिलोर मार रहा है। उसका आर-पार कुछ नहीं सूझता: 'समन्दर है। अपनी नन्हीं-नन्हीं काग़ज़ की डोंगी लिये उसके किनारे खेलने के लिए आ उतरते हैं। पर किनारे ही कुशल है, आगे थाह नहीं है।' ऐसी अधिकतर हमारी मनोवृत्ति है। जैनेन्द्र आगे बढ़ गये हैं; किन्तु पृथ्वी उनके पैरों के नीचे से भी निकल रही है। 'उस सागर की लहरों का अन्त कहाँ है? कूल कहाँ है? पार कहाँ है? कहीं पार नहीं है, कहीं किनारा नहीं है। आँख के ठहरने को कोई सहारा नहीं है। क्षितिज का छोर है, जहाँ आसमान समन्दर से आ मिला है। वहाँ नीला अँधियारा दीखता है। पर छोर वहाँ भी नहीं है। वहाँ छोर तो हमारी अपनी ही दृष्टि का है, अन्यथा वहाँ भी वैसी ही अकूल विस्तीर्णता है।'

जैनेन्द्र की भाषा के अनेक गुण इस उद्धरण में हैं। सादगी; काव्य तक उठने की क्षमता; एक खेलनेवाली कृत्रिमता—जैसे कोई अच्छा-बड़ा मनुष्य तुतलाने का प्रयास करता हो! 'ठैरा' 'समंदर' हमारे कान को नहीं सुहाते। 'परख' से 'त्याग-पत्र' तक जैनेन्द्र की शैली ख़ूब परिमार्जित हो चुकी है। वह अधिक प्रवाहमयी है और प्रौढ़ावस्था में पदार्पण कर चुकी है। 'परख' में बहुधा काव्य का आनन्द उनकी भाषा हमें देती है;

किन्तु यह स्वाभाविक है कि कथावस्तु में अधिक प्रवाह आने पर गद्यकाव्य की कुछ हानि हो।

'कल्याणी' में जैनेन्द्र ने भारतीय नारी का एक नया चित्र प्रस्तुत किया है। पिछले कुछ वर्षों में जैनेन्द्र की कला ने चिन्ताजनक रुख बदला है। आपकी लेखनी में अतिशय आध्यात्मिकता के कारण अस्पष्टता आ गई है। प्रश्नोत्तर की पद्धति आपको प्रिय होती जा रही है। 'कल्याणी' भी 'प्रस्तुत प्रश्न' का ही एक नया रूप लगता है। इसमें पात्र कम हैं, प्रश्न और उत्तर अधिक।

अपने अन्तिम दो उपन्यासों 'सुखदा' और 'विवर्त्त' में जैनेन्द्रजी ने अपने को केवल दोहराया है। यह उपन्यास 'सुनीता' की पुनरावृत्ति और उसके परिष्कृत रूप हैं।

भगवतीचरण वर्मा : उपन्यासकार

भगवतीचरण वर्मा हिन्दी-साहित्य की एक प्रतिभा-सम्पन्न शक्ति हैं। आपकी साहित्यिक यात्रा का एक दीर्घ काल गुज़र चुका है। इस समय तक आप अनेक उपन्यास, कहानी-संग्रह और कविताएँ प्रकाशित कर चुके हैं। आपने एक बृहद् उपन्यास और भी लिखा है जिसके अभी दर्शन नहीं हुए।

किन्तु अभी तक भगवती बाबू की कोई महत् देन हिन्दी संसार को नहीं मिली। आपका व्यक्तित्व बारूद से बना है, उसके संपर्क में आकर रूढ़िवादी विचार और मानदण्ड सब उड़ जाते हैं। कला भगवती बाबू के लिए साधन मात्र है। उसके बाह्य रूप से बढ़कर आप उसके विषय का आदर करते हैं। अपनी कला के माध्यम से भगवती बाबू ने निरन्तर एक विप्लवकारिणी विचार-धारा का प्रचार किया है। यद्यपि असन्तोष की अग्नि का ईंधन ही अब तक आपकी फ़िलासफी रही है, तथापि गुरुता और गम्भीरता भी उसमें काफ़ी मात्रा में रही है। वर्माजी व्यक्तिवादी हैं,

किन्तु आपके व्यक्तित्व में गति-शीलता है और आज हिन्दी साहित्य की जो शक्तियाँ मानवता से विमुख नहीं, उनमें आप अग्रगण्य रहे हैं। हमारा विश्वास है कि भविष्य में शीघ्र ही आपकी कला का महत् दान हिन्दी-साहित्य को मिलेगा।

वर्माजी के उपन्यास जो अब तक निकल चुके हैं, विभिन्न आवरण पहनकर भी एक ही विचार-धारा के अङ्ग हैं। इन उपन्यासों में सामाजिक मान-बिन्दुओं के प्रति विद्रोह-भावना है। आपका पहला उपन्यास 'पतन' अधिक प्रकाश में नहीं आया। 'चित्रलेखा' में 'पाप' की समस्या पर प्रकाश डाला गया है। जिसे समाज 'भोगी' समझता है, वह 'योगी' से बढ़कर है। 'तीन वर्ष' में ग्लानि की मात्र कुछ और भी बढ़ गई है। हमारे समाज में धन का मान ही सबसे बढ़कर है और मनुष्य का कुछ भी नहीं, ऐसा कुछ लेखक का इशारा है। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में आपको सभी मार्ग ग़लत लगते हैं।

जिस समाज के भगवती बाबू अङ्ग हैं, उसके प्रति ये विचार तीव्र और कटु आलोचना हैं। बात यह है कि इस समाज में विशेष प्राणी ही पनप सकते हैं और इस अवस्था में कलाकार के विकास में अवरोध पड़ता है। 'चित्रलेखा' में भगवती बाबू भारत के अतीत युग का चित्रपट अपनाते हैं; 'तीन वर्ष' में आधुनिक मध्य-वर्गीय समाज का। किन्तु मनुष्य दोनों में समान रूप से परिस्थितियों का शिकार है।

'चित्रलेखा' में अनातोल फ्रान्स के प्रसिद्ध उपन्यास 'थायस' का कुछ आभास मिलता है। किन्तु कथानक में समानता से अधिक कुछ नहीं। 'चित्रलेखा' में चन्द्रगुप्त मौर्य का भारत हमारी आँखों के सामने घूम जाता है। उपनिषदों की मदद से इस उपन्यास की काया निर्मित की गई है। एक ओर पाटलिपुत्र का विशाल वैभव, दूसरी ओर आश्रम-जीवन का विद्योपार्जन और ज्ञान-संचय।

'चित्रलेखा' में पाप की पहेली पर विचार किया गया है। 'पाप' की समस्या पर समुचित प्रकाश उपन्यास में पड़ा है, यह नहीं कहा जा सकता।

लेखक का मन्तव्य है कि जीवन में पाप-पुण्य कुछ नहीं; परिस्थितियाँ मनुष्य को पापी या पुण्यात्मा बनाती हैं। न बीजगुप्त पापी है, न कुमारगिरि। वास्तव में पाप से कथानक अछूता है। यदि कोई सजीव व्यक्ति कहानी में है तो वह श्वेतांक है, किन्तु श्वेतांक भी दुर्बल मानव-मात्र है, पापी नहीं।

उपसंहार में महाप्रभु रत्नाम्बर ने पाप की व्याख्या की है, इसे हम लेखक का मत भी समझ सकते हैं :

'संसार में पाप कुछ भी नहीं है, वह केवल मनुष्य की दृष्टिकोण की विषमता का दूसरा नाम है। प्रत्येक व्यक्ति एक विशेष प्रकार की मनःप्रवृत्ति लेकर उत्पन्न होता है—प्रत्येक व्यक्ति इस संसार के रंगमंच पर एक अभिनय करने आता है। अपनी मनःप्रवृत्ति से प्रेरित होकर अपने पाठ को वह दुहराता है—यही मनुष्य का जीवन है। जो कुछ मनुष्य करता है, वह उसके स्वभाव के अनुकूल होता है और स्वभाव प्राकृतिक है। मनुष्य अपना स्वामी नहीं है, वह परिस्थितियों का दास है—विवश है। मनुष्य कर्त्ता नहीं है, वह केवल साधन है। फिर पुण्य और पाप कैसा ?'

'चित्रलेखा' में कथानक का प्रवाह गम्भीर नदी के समान है, अविरल, एकरस। भाषा सरल, स्निग्ध और सौम्य है। विचारलीन पाठक इन बातों की ओर अधिक ध्यान नहीं देता।

'चित्रलेखा' के पात्र मार्मिक हैं। बीजगुप्त एक महान् आत्मा है। उसके जीवन का आदर्श तो उच्च नहीं। किन्तु वह वैभव का पुतला बलिदान के अवसर पर नहीं चूकता। उपन्यासकार की संपूर्ण अनुभूति बीजगुप्त को मिली है और हम उसे लेखक की फ़िलासफी का दर्पण भी मान सकते हैं। 'चित्रलेखा' के चित्रण में विशेष जटिलता आ गई है। एक अवसर पर वह कुमारगिरि और बीजगुप्त दोनों को ही प्यार करती है और यह कहने में असमर्थ है कि कौन उसके हृदय का हार है। चित्रलेखा और यशोधरा की लेखक ने तुलना की है। 'चित्रलेखा जीवन की हलचल थी, यशोधरा मृत्यु की शान्ति।.........एक में मादकता प्रधान थी और

दूसरी में शान्ति। चित्रलेखा की मादकता भयानक थी—उसका नृत्य उसकी सजीवता की प्रतिमूर्ति। पर साथ ही यशोधरा की शान्ति अथाह सिन्धु की भाँति थी, जिसमें पड़कर मनुष्य अपने को भूल जाता है।'

वर्माजी जीवन को कर्मक्षेत्र मानते हैं और इससे विमुखता अकर्मण्यता। आपकी योगी कुमारगिरि के प्रति सहानुभूति नहीं, और उसका पतन आपने कुछ द्वेष-भाव से दिखाया है। 'चित्रलेखा' का निष्कर्ष यह निकलता है : 'सुख तृप्ति है और शान्ति अकर्मण्यता। पर जीवन अविकल कर्म है, न बुझनेवाली पिपासा है। जीवन हलचल है, परिवर्तन है; और हलचल तथा परिवर्तन में सुख और शान्ति का कोई स्थान नहीं।'

'तीन वर्ष' जीवन से दग्ध मनुष्य की कहानी है। 'चित्रलेखा' का उल्लास और आत्म-विश्वास यहाँ ख़त्म हो चुका है, किन्तु अकड़ अभी शेष है। रस्सी जल चुकी है, लेकिन बल उसके नहीं गये।

लाभ-प्रेरित समाज का पहले खण्ड में ख़ाका खींचकर लेखक इस नतीजे पर पहुँचता है कि इस उच्च-वर्ग से मद्यप और वेश्याओं में अधिक दया और ममता है।

'तीन वर्ष' रमेश के जीवन से काटकर हमारे सामने रक्खे गये हैं। इनमें दो प्रयाग विश्वविद्यालय में बीते, एक कानपुर में। वर्माजी इस पट-भूमि से विशेष परिचित हैं। जो प्रयाग में पढ़ चुके हैं, उनके सामने यूनिवर्सिटी के दृश्य फिर से सजीव हो जायँगे।

'जब रमेश यूनिवर्सिटी में आया, वह निरा बुद्धू था। वह बन्द गले का गबरून का कोट पहिने था जो काफ़ी पुराना था और फटने लगा था। उसकी धोती मोटी थी और घुटने के नीचे का कुछ थोड़ा-सा ही हिस्सा ढाक सकती थी। पैर में एक काला डरबी शू पहिने हुए था जो शायद नया था। सर पर एक पुरानी फेल्टकैप थी जिसने कभी अच्छे दिन अवश्य देखे होंगे, जिस पर आध इञ्च मोटी मैल की तह जमी हुई थी। टोपी का चँदवा उठा हुआ था, और एक लम्बी-सी चुटिया उस टोपी के बाहर

पीछे की ओर निकली हुई थी।'

अजित के सम्पर्क में आकर रमेश ने दुनिया देखी, वह सभ्य, संस्कृत समाज, जो शासन करती है और सभ्यता और संस्कृति की दावेदार है। प्रभा को हम इस धन पर टिकी सभ्यता की प्रतीक मान सकते हैं। वह रमेश से प्रेम करती है, किन्तु उससे विवाह करने के लिए तैयार नहीं, क्योंकि उसके पास भोग-विलास के साधन उपलब्ध नहीं।

फिर रमेश मद्यपों और वेश्याओं के सम्पर्क में आया। सरोज वेश्या होते हुए भी प्रभा से ऊँची थी। उसने अपने आपको रमेश के लिए मिटा दिया, अपना धन, तन, प्राण उस पर न्योछावर कर दिया। रमेश सरोज को वेश्या नहीं कहता, बल्कि प्रभा को : 'तुम पुरुष का धन लेती हो, पुरुष को अपना शरीर देने के बदले में—है न ऐसी बात ? और यह वेश्यावृत्ति है!'

'तीन वर्ष' में विलास की लौ प्रबल है, जॉनी वॉकर, ह्वाइट हॉर्स और रूप के बाज़ार की पुकार। पतिंगे की तरह रमेश इन पर झपटा, परन्तु पंख जलने के अतिरिक्त हाथ कुछ न आया। उस जले व्यक्ति ने सरोज को भी फूँक-फूँककर पिया। यह सामाजिक परिस्थितियों की विडम्बना है, व्यक्ति के चरित्र की नहीं। जब रमेश ने इस चमकती रजकण को बटोरा, तो हाथ में बालू ही रही, चमक ग़ायब हो चुकी थी। न बालू से उसकी प्यास ही बुझी।

'तीन वर्ष' जीवन-मृत समाज का चित्र है। उद्विग्न और विरस, खिन्न मन से कलाकार ने यह चित्र बनाया है। मानो पुकार-पुकारकर वह कह रहा हो, 'यह विषमता है, घोर विडम्बना है।' इस समाज की प्राचीरों के बाहर अभी कलाकार ने कुछ नहीं देखा, इस कारण हताश उसका मन कुंठित हो भीतर ही भीतर हाहाकार कर उठा है।

'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' से यह और भी स्पष्ट होता है कि किसी भी मार्ग में लेखक की आस्था नहीं है और कहीं भी वह आशा का कण नहीं देखता।

'बच्चन'

हिन्दी कविता में 'हालावाद' नाम की जो एक नवीन धारा वही उसे समझने के लिए एक कवि का व्यक्तित्व कुछ ऐतिहासिक कारणों के साथ-साथ समझना ज़रूरी है। 'हालावाद' का राष्ट्रीय आन्दोलन से भी कुछ सम्बन्ध है, यद्यपि ऊपर से यह बात अजीब-सी लगती है। 'बच्चन' ने दाँडी की समर-यात्रा से प्रेरित होकर यूनिवर्सिटी छोड़ दी थी। जेलों में अनेक भावुक युवा कवि बन गये और हाला को याद कर कारागार का कष्ट भूलने का प्रयत्न करने लगे। 'बच्चन' की 'मधुशाला' में क्रांति की गूँज स्पष्ट है, यद्यपि केवल कला के नाते उसका मूल्य उतना नहीं, जितना 'मधुकलश' अथवा 'निशा-निमन्त्रण' का। 'बच्चन' के काव्य में प्रचलित समाज-योजना के प्रति प्रबल विरोध का भाव है। उच्चवर्ग की खँडहर संस्कृति में फँसे विफल वह हाला में अपने को भूल जाना चाहते हैं; जैसे 'रूपाभ' से पहले के पन्त कोमल रेशमी तारों के स्वप्न-जाल में, 'प्रसाद' अतीत के इतिहास में और महादेवी वर्मा दीप जलाकर किसी अज्ञात प्रियतम की प्रतीक्षा में। यही आधुनिक हिन्दी-काव्य का निराशावाद है।

'बच्चन' नवयुवक कवि हैं। नित नूतन शक्ति वे संचित कर रहे हैं। 'मधुशाला' से 'मधुबाला' और 'मधुबाला' से 'मधुकलश' तक उन्होंने विकास और प्रगति के नियमों को निबाहा। 'निशा-निमन्त्रण' और 'एकान्त संगीत' में वह नई दिशाओं की ओर उन्मुख हुए। 'सतरंगिनी' और 'बंगाल का काल' उनके काव्य में नई दृष्टि की सूचना है।

क्या है हिन्दी के इस तेजस्वी, अभिमानी और उच्छृङ्खल कवि के जीवन का इतिहास? क्या है उसके अदम्य व्यक्तित्व की रूप-रेखा? क्या इस बाहरी वेष-भूषा में छिपा उसका व्यक्तित्व हम खोज भी सकते हैं? वह स्वयं कहता है:

'बूझ दुनिया यह पहेली, जान 'कुछ' मुझको सकेगी।'

जब कलाकार कोई व्यक्ति-चित्र बनाता है, तो बाह्य रूप-रेखा कुछ मिलती-जुलती-सी होकर भी विकृत हो जाती है; क्योंकि चित्रकार बाह्य मनुष्य का नहीं, वरन् उसके अन्तर का चित्र खींचने का प्रयत्न करता है। 'बच्चन' के रूखे, बिखरे बाल, कृश गात, किसी तप-साधना में सुखाया शरीर, मस्ती, अलस भाव-भरी आँखें, कुछ चीनियों जैसे सूजे से पलक—उनके मुख का पूरा भाव, उनकी सम्पूर्ण आकृति मानो 'मधुशाला' का साकार रूप हो! किन्तु 'बच्चन' का शरीर व्यायाम से गठा, स्वस्थ और कठिन है।

'बच्चन' के व्यक्तित्व का एक बड़ा आकर्षण है, उनका स्वर। हिंदी की अनेक सभाएँ उनके मधु-गान से मोहित हो चुकी हैं। जब वे अपने गंभीर कण्ठ से स्वरों के उतार-चढ़ाव सहित तल्लीनता से अपनी 'पगध्वनि' सुनाते हैं, तो हमें संगीत और साहित्य का सुख एक साथ ही मिलता है। 'बच्चन' की कविता का पूरा आनन्द उसे उन्हीं के मुख से सुनकर मिलता है।

'बच्चन' का जन्म २७ नवम्बर १६०७ को प्रयाग 'चक' में हुआ। १६२६ में वे मुट्ठीगंज गये। आपका नाम 'हरिवंश राय' कम लोग जानते हैं। आपकी माँ आपको 'बच्चन' कहकर पुकारती थीं। यह उचित ही है कि उस स्नेह के नाम से आपने जग में ख्याति पाई। आपकी प्रारंभिक शिक्षा म्यूनिसिपल स्कूलों में हुई। सन् १६२५ में आपने कायस्थ पाठशाला से हाई स्कूल पास किया; १६२७ में गवर्नमेन्ट इंटर कालिज से इंटरमीडिएट और १६२६ में प्रयाग विश्वविद्यालय से बी० ए० किया। हिन्दी साहित्य की आपको शुरू से ही अच्छी जानकारी रही है। एम० ए० आपने अंग्रेजी में किया है। सत्याग्रह आन्दोलन शुरू होने पर आपने यूनिवर्सिटी छोड़ दी। गान्धीवाद से असंतोष बढ़ने पर आपका क्रान्तिवादियों से संपर्क हुआ। यहाँ आपको 'प्रेम की सुकुमारता और कर्तव्य की दृढ़ता साथ-साथ मिली।' इस बीच आपने 'चाँद', 'भविष्य', 'अभ्युदय', प्रयाग महिला विद्यापीठ, पायनियर प्रेस और इलाहाबाद मिडिल स्कूल आदि में काम भी किया। आपके जीवन का यह भाग १६३४ के अन्त तक रहा। अब भी आप उस

कठिन जीवन की याद कर सिहर उठते हैं।

आपका विवाह १९२६ में हो गया था। नवम्बर १९३६ में आपकी पत्नी का देहावसान आपके जीवन की दारुण घटना है। निरन्तर ही 'बच्चन' को उनकी काव्य-प्रेरणा में स्वर्गता श्यामादेवी ने सहायता दी। उन्होंने 'बच्चन' से कहा था—"तुम्हारी 'मधुशाला' को लोग भूल जायँगे, लेकिन तुम्हारी 'ख़ैयाम की मधुशाला' जीवित रहेगी।" बड़े सुन्दर शब्दों में 'बच्चन' ने अपना 'मधु कलश' आपकी भेंट किया है : "यह 'मधु-कलश' दिवंगता देवी श्यामा की स्मृति में विशाल विश्व वृक्ष की डाल में चिरकाल तक बँधा रहे!" 'बच्चन' लिखते हैं—'मेरे जीवन के सबसे अधिक संघर्षमय काल में मुझे जैसी संगिनी की आवश्यकता थी, वह बिल्कुल वैसी ही थीं। उन्होंने अपने को मेरे लिये मिटा दिया।'

१९३४ में 'बच्चन' को अग्रवाल विद्यालय में हिन्दी शिक्षक की पक्की जगह मिली। अपने जीवन-स्वप्नों में निराश होने के कारण १९३५ में आप क्षय रोग से ग्रस्त हुए। 'इस पार—उस पार' कविता इसी बीमारी की दशा में लिखी गई थी। किसी प्रकार आप अच्छे हो गये; किन्तु जिस महीने आप अच्छे हुए, उसी महीने आपकी पत्नी बीमार हो गईं और फिर चारपाई से न उठ सकीं। समय काटने के लिए बच्चन ने फिर से विद्यार्थी जीवन की शरण ली और एम० ए० और बी० टी० की उपाधियाँ प्राप्त कीं।

बच्चन अब प्रयाग विश्वविद्यालय में अंग्रेजी के अध्यापक हैं। आपका विवाह एक उच्चकुलीन पंजाबी महिला से जनवरी '४२ में हुआ। इस प्रकार आपकी जीवन-तरी भटकने के बाद किनारे आ लगी है।

कविता, संगीत और चित्रकला की ओर आपकी रुचि बहुत बचपन से थी। संगीत और चित्रकला के लिए आपको प्रोत्साहन न मिला। कुछ कविताएँ आपने आठवीं कक्षा में लिखी थीं। वे नष्ट हो गई हैं। क्रमानुसार लिखने का कार्य १९३० से आरम्भ हुआ। 'तेरा हार' १९३० की कविताओं का संग्रह है। इस संग्रह की बहुत-सी कविताएँ आपका देश-प्रेम

व्यक्त करती हैं; कुछ भविष्य का भी इंगित करती हैं, किन्तु इस संग्रह में अब के सुपरिचित 'बच्चन' की प्रौढ़ता और काव्य-प्रेरणा नहीं। इस काल की रचनाएँ 'आरम्भिक रचनाएँ' शीर्षक से दो भागों में प्रकाशित हो गई हैं।

'बच्चन' का गल्प-संग्रह भी अप्रकाशित है। आप सुन्दर गल्प लिखते हैं। 'निशा-निमन्त्रण' के आरम्भ में आपने अपनी एक कहानी दी भी है। युवक-गल्प-सम्मेलन, प्रयाग में आपको अपनी गल्प के लिए प्रथम पुरस्कार मिला था। सुन्दर, स्निग्ध भाषा और भाव-गम्भीरता आपकी गल्पों के विशेष गुण हैं। गद्य-काव्य के वह अधिक समीप हैं।

'मधुशाला' से 'बच्चन' को सर्वप्रथम ख्याति मिली। एक समय मध्य देश में उसका राग इतनी शीघ्रता से लोकप्रिय हो रहा था कि कुछ आलोचक कहने लगे, वह 'गलियों का गाना' हो जायगी। अब भी 'बच्चन' 'मधुशाला' के कवि के रूप में ही लोक-कल्पना में बसे हैं, यद्यपि उनकी कविता का रूप बदल गया है। इसी मधु-प्रेम के कारण 'बच्चन' हिन्दी में उमर खैयाम के सबसे सफल रूपान्तरकार रहे हैं। एक प्रसिद्ध रुबाई का अनुवाद आप करते हैं :

'उषा ने फेंका रवि-पाषाण
निशा-भाजन में जल्दी जाग
प्रिये! देखो पा यह संकेत
रहे कैसे तारक दल भाग
और देखो तो उठकर, प्राण!
अहेरी ने पूरब के लाल
फँसा ली सुल्तानी मीनार
बिछा कैसा किरणों का जाल!'

'बच्चन' की 'मधुशाला' में इस युग और समाज की पीड़ा निहित है। बाज़ार में बिकनेवाली मदिरा वह नहीं खोज रहे :

'वह हाला कर शान्त सके जो
मेरे अन्तर की ज्वाला।
जिसमें मैं बिंबित-प्रतिबिंबित,
प्रति पल वह मेरा प्याला॥
'मधुशाला' वह नहीं जहाँ पर,
मदिरा बेची जाती है,
भेंट जहाँ मस्ती की मिलती,
मेरी तो वह मधुशाला॥'

कविता उनकी मधुशाला है। यही मधु पीकर वे बेसुध हो जाते हैं :

'भावुकता अंगूर-लता से,
खींच कल्पना की हाला।
कवि बनकर है साकी आया,
भरकर कविता का प्याला॥'

कहीं-कहीं 'मधुशाला' की जीवन से तुलना की गई है। अनेक तृषित जीव प्यास लिये इस मदिरालय में आते हैं और पलभर रुककर प्यास बुझाने का विफल प्रयास कर चले जाते हैं :

'कितनी थोड़ी-सी यौवन की
हाला, हा, मैं पी पाया!
बन्द गई हो कितनी जल्दी
मेरी जीवन 'मधुशाला'!'

'मधुशाला' मनुष्य-जीवन का चरम-लक्ष्य है। अनेक पथ उधर जाते हैं, किन्तु मिलते सब एक ही स्थान पर हैं :

'मदिरालय जाने को घर से
चलता है पीने वाला,
'किस पथ से जाऊँ ?' असमंजस
में है वह भोला-भाला,

अलग-अलग पथ बतलाते सब
पर मैं यह बतलाता हूँ—
राह पकड़ तू एक चला चल,
पा जायेगा मधुशाला ॥'

'मधुबाला' और 'मधु-कलश' की कुछ कविताओं में 'बच्चन' ने अपना आत्म-परिचय दिया है। आप 'निराशावादी' हैं; आपके काव्य में 'वासना का पुट' है; आप पथ भ्रष्ट हैं—ऐसे अनेक आक्षेप आप पर हुए हैं। उन्हीं का उत्तर आपने इन कविताओं में दिया है। 'आत्म-परिचय' में आपने अपना चित्र खींचा है :

'मैं निज रोदन में राग लिये फिरता हूँ,
शीतल-वाणी में आग लिये फिरता हूँ;
हों जिस पर भूपों के प्रासाद निछावर,
मैं वह खँडहर का भाग लिये फिरता हूँ !
× × ×
है यह अपूर्ण संसार न मुझको भाता,
मैं स्वप्नों का संसार लिये फिरता हूँ !'

'पथभ्रष्ट' शीर्षक कविता में और भी स्पष्ट और मधुर शब्दों में आपक व्यक्तित्व प्रकट हुआ है :

'पार तम के दीख पड़ता
एक दीपक झिलमिलाता,
जा रहा उस ओर हूँ मैं
मत्त मधुमय गीत गाता,
इस कुपथ पर या सुपथ पर
मैं अकेला ही नहीं हूँ,
जानता हूँ क्यों जगत फिर
उँगलियाँ मुझ पर उठाता—

मौन रहकर इस लहर के
साथ संगी वह रहे हैं,
एक मेरी ही उमंगें
हो उठी हैं व्यक्त स्वर में।
हैं कुपथ पर पाँव मेरे
आज दुनिया की नज़र में ॥'

'बच्चन' विद्रोही कवि हैं। आप सामाजिक वर्जनाओं के विरोध में खड़े हुए हैं। यद्यपि नियति के वारों से आपका मस्तक रक्ताभ है, किन्तु अभी तक वह झुका नहीं। अब तक आपके काव्य का विशेष गुण आपका विद्रोह-भाव रहा है। आपके अस्त-व्यस्त बाल और कपड़े, आपकी मधु-पूजा, आपकी भाषा में उर्दू का कुछ पुट, आपका काव्य-संगीत—सभी में कुछ नवीनता है। आपका अभिमान, आपके काव्य में वासना की गंध, आपकी स्वच्छन्दता और उच्छृङ्खलता—उसी विद्रोह-भावना के दूसरे रूप हैं।

अब यह आग दबती जा रही है, किन्तु फिर भी राख में अँगारे या मैदान में दूर चमकती दीप शिखा की भाँति आपके काव्य में दीखती है। अपकी कविता की वेषभूषा में अब संयम आ चला है। इस युग के अग्र-गण्य-कवियों में अब आपकी गिनती होने लगी है। आपका संगीत अब अत्यन्त कोमल और सुकुमार हो गया है :

'है आज भरा जीवन मुझ में,
है आज भरी मेरी गागर।'

× × ×

'है आज गया कोई मेरे
तन में, प्राणों में, यौवन भर
अपने से ही फूटा पड़ता
मुझमें लय-ताल सहित मृदु स्वर।'

किन्तु अब भी आप कह उठते हैं :

'रक्त से सींची गई है
राह मन्दिर-मस्जिदों की,
किन्तु रखना चाहता मैं
पाँव मधु-सिंचित डगर में।
पाप की हो गैल पर
चलते हुए ये पाँव मेरे,
हँस रहे हैं उन पगों पर
जो बँधे हैं आज घर में॥'

'बच्चन' के नये गीतों के संग्रह 'निशा-निमन्त्रण' और 'एकांत संगीत' नाम से निकले। इन गीतों में Elegy का भाव है। 'रात्रि के अंधकार-पूर्ण वातावरण से अपनी अनुभूतियों को रञ्जित कर' आपने यह गीत तैयार किये हैं। दुःख का भाव जो सदैव 'बच्चन' की कविता में प्रमुख रहा है, इन गीतों में कुछ अधीर और दुःसह रूप में प्रकट हुआ है। अपने लिए आप कहते हैं :

'डर न लगे सुनसान सड़क पर,
इसी लिए कुछ ऊँचा स्वर कर
विलग साथियों से हो कोई पथिक, सुनो, गाता आता है।
अन्धकार बढ़ता जाता है!'

'अन्तरिक्ष में आकुल-आतुर,
कभी इधर उड़, कभी उधर उड़
पन्थ नीड़ का खोज रहा है पिछड़ा पंछी एक—अकेला!
बीत चली सन्ध्या की वेला!'

इन गीतों में 'बच्चन' ने एक 'साथी' की कल्पना की है। उसी को गुन-गुनाकर आपने अपने गीत सुनाये हैं :

'साथी, अन्त दिवस का आया।'

'सतरंगिनी' में नये उल्लास से कवि जीवन की ओर मुड़ा है। 'बच्चन' का जीवन अब प्रशस्त पथ पर आ गया है। किन्तु उनकी कविता का

स्वर मन्द भी पड़ रहा है। 'बच्चन' की कविता का भविष्य हिन्दी संसार उत्सुकतापूर्वक देखेगा। 'बंगाल का काल' में आप अपनी निजी समस्याओं को भूलकर सामाजिक समस्याओं की ओर मुड़े हैं। आपके काव्य की यह नवीन दिशा आशाजनक है।

नरेन्द्र

हिन्दी के तरुण प्रगतिशील कवियों में नरेन्द्र का स्थान ऊँचा है। जिस गति से आप आगे बढ़ रहे हैं, उसे ध्यान में रखते हुए आप शीघ्र ही हिन्दी काव्य-प्रासाद के एक प्रमुख स्तम्भ बन सकते हैं।

नरेन्द्र अपने पहले दो प्रकाशन 'शूल-फूल' और 'कर्ण-फूल' में संकलित रचनाओं का अलग संग्रह 'प्रभात-फेरी' निकाल चुके हैं। आपकी नई रचनाओं के संग्रह 'प्रवासी के गीत', 'पलाश-वन', 'मिट्टी और फूल' आदि नाम से निकलते हैं। आपके नये गीतों में कुछ नया ही संगीत और विचार-विन्यास है। अजगर के समान हमारे समाज के ऊपर आरूढ़ शक्तियों का यहाँ निरूपण है और कवि की आत्मा का मुक्त-संगीत :

'ज्यों घेर सकल संसार, कुण्डली मार
पड़ा हो अहि विशाल,
आक्रान्त धरा की छाती पर
गुम-सुम बैठा मध्याह्न-काल !' ['ज्येष्ठ का मध्याह्न']

देवली कैम्प-जेल में लिखी कविताएँ 'सोवियेत रूस', 'लाल निशान', 'यक्कुम मई' लोक-गीतों की सरलता से क्रान्ति की भावना का प्रसार करती हैं। देखिए :

'आओ, सब मेहनतकश साथी—
लिये हथौड़ा और दराँती !
जो मेहनत से पैदा करते
मालिक हैं वह दुनिया भर के !

खोलो लाल निशान !
हो सब लाल जहान ।'

नरेन्द्र का मधुर व्यक्तित्व अनायास ही मन उनकी ओर आकृष्ट करता है। आप चिन्तनशील, सहज-भावुक कवि हैं। विश्व-साहित्य के मापदण्ड आपके पास है, अतएव अहम् की यात्रा आपमें नहीं-सी है। आप अपने छोटे-से जीवन में ही वेदना-भार से दब चुके हैं, अतः आपके काव्य का भाव-स्रोत भी विकल होकर उमड़ पड़ा है :

'मैं सब दिन पाषाण नहीं था !
किसी शापवश हो निर्वासित
लीन हुई चेतनता मेरी,
मन-मन्दिर का दीप बुझ गया,
मेरी दुनिया हुई अंधेरी !
पर यह उजड़ा उपवन सब दिन
बियावान सुनसान नहीं था !
मैं सब दिन पाषाण नहीं था !'

नरेन्द्र अपने जीवन के इस पीड़ा-भार से मुक्त होने और अतीत को भूलकर भविष्य की ओर अपने नेत्र उठाने का निरन्तर प्रयास कर रहे हैं।

हिन्दी के सौम्य कवि श्री पन्त का निरन्तर सहवास आपके काव्य और व्यक्तित्व दोनों के लिए श्रेयस्कर सिद्ध हुआ है। आपकी आत्मा की सहज काव्य-धारा में और भी गति आ गई है और गुटबन्दियों के राग-द्वेष से विलग आप चिन्तन और सृजन के जग में लीन हैं।

नरेन्द्र की आत्मा की सरलता और माधुरी आपके वाह्य रूप में भी प्रकट हुई है।

अपने जीवन के उषःकाल में जो गीत नरेन्द्र ने गाये थे, वह आज विस्मृत-से हैं। 'शूल-फूल' और 'कर्ण-फूल' की पुरानी प्रतियों में वे खो गये हैं। उन कोमल, सुकमार, गुलाबी गीतों से कवि को अब सन्तोष नहीं :

'खोलो, अवगुंठन खोलो !
प्यासे नयन भ्रमर-से आकुल
कमलनयनि ! दर्शन को व्याकुल,
अधर अधीर मधुर चुम्बन को,
श्रवन तृषित कोकिल-कूजन को
बोलो, मधुमयि कुछ बोलो, !
खोलो, अवगुंठन खोलो !'

संघर्ष की काल-रात्रि में प्रणय के मधुर छन्द भूलकर अब समर-भूमि से कवि ने 'प्रवासी के गीत लिखे' हैं :

'साँझ होते ही न जाने छा गई कैसी उदासी ?
क्या किसी की याद आई, ओ विरह-व्याकुल प्रवासी ?'

तरुण कवि की प्रेरणा स्वभावतः प्रणय, प्रकृति और शृङ्खलाबद्ध समाज में स्वाधीनता की ओर होती है। नरेन्द्र के अगणित गीत किसी अनजान प्रेयसी के रूप की खोज हैं :

'आयेगी वह कौन लाज-सी
आज स्वर्ण-हंसों के रथ में ?
किसके लिए आज प्राची ने
बिछा दिये हैं पाटल पथ में ?'
'कौन, कौन, वह स्वप्नागंतुक,
जिसके पग-पायल की रुन-झुन
बजी आज मेरे अन्तर में,
हूँ अधीर जिसकी पग-ध्वनि सुन ?'

उषःकाल का वह उल्लास अब समय की गति में खो गया है और कवि जीवन की अकथ पीड़ा का बन्दी बना है :

'मधुमास स्वयं ही चला गया
आया जैसे वह अनायास !'

यौवन के प्रभात में कवि ने प्रकृति-बाला को भी रुचिर पल्लव भेंट किये। इन गीतों के रंग चटख़ और गहरे थे और रेखाएँ पुष्ट, दृढ़ हाथों से खिंचीं:

'देखा करता हूँ गगा में उगता गुलाब-सा अरुण प्रान्त।
यमुना की नीली लहरों में नहला तन, उठती नित्य रात!
गंगा-यमुना की लहरों में, कण-कण में मणि नयनाभिराम
बिखरा देती है साँझ हुए नारंगी-रँग की शान्त शाम!'
स्वर्णिम मयूर-से नृत्य किया करते उपवन में गोल्डमोहर,
कुहका करती पिक छिप छिपकर तरुओं में रत प्रत्येक प्रहर
भर जाती मीठी सौरभ से कड़वे नीमों की डाल-डाल
चल दल पर लद जाते असंख्य नव-दल-प्रवाल के जाल लाल!'

इन गीतों में वसन्त का मिठास और सौरभ था, जो अब अदृश्यप्राय है:

'मधुमय स्वर से सिञ्चित मधुवन,
सुरभित नीम, नवल-दल पीपल,
मधु में बौरे आम मञ्जरित,
फैले द्रुम-द्रुम विद्रुम से दल,'
× × ×
'पिक-श्यामल मँडराते अलिदल!
मुहु-मुहु कुहु-कुहु कुहुकी कोयल!'

किन्तु आज तो कवि कहता है:

'मैं मरघट का पीपल-तरु हूँ
घड़ी-घड़ी यमदूत याम नित
घड़ी-घंट-(जिनमें सुधि का जल)—
बाँध रहे हैं तृषित कंठ में
करने आगत का उर शीतल,
पर क्या मेरी प्यास बुझेगी?
मैं मरघट का पीपल-तरु हूँ!'

फिर भी आप जब कभी गुनगुना उठते हैं :

'मेरा घर हो नदी किनारे।'

अब भी फिर-फिर वसन्त आता है, किन्तु अब कवि का दृष्टिकोण भिन्न है। वह कोमलता और माधुरी का आँचल छोड़ सत्य और शक्ति की खोज में है :

'पतझर के दिन भी बीत चले,
पल्लव-पुष्पों से वृक्ष भरे।
यों ही मधु के हलकोरों से
हो जायेंगे, फिर बाग हरे!'

× × ×

'पीपल की नंगी डालों पर
आ गईं पत्तियाँ लाल-लाल।
पुर जाती भरते घावों पर
जैसे हल्की मृदु लाल खाल!'
'नव शिशु की अविकच त्वचा-सदृश
खो देंगे पत्र मृदुल लाली,
कुछ हरितपीत, फिर हरितश्याम
होगी तरु की डाली डाली!'

कवि अब प्रकृति का केवल रुपहला रूप ही नहीं देख रहा, वह प्रकृति में संघर्ष और पीड़ा का जन्म भी देखता है। इस प्रकार उसकी कल्पना अपनी परिधि बढ़ा रही है। और नया बल उसके काव्य में भर रहा है।

नरेन्द्र की कविता में, विशेषकर 'प्रवासी के गीतों' में अकथ पीड़ा भरी है। यद्यपि उसे क्षणभर के लिए ज्योति का भास हुआ, किन्तु तुरन्त ही अन्धकार ने पथ मेट दिया। अब तो चारों ओर उसे निराशा ही दीखती है :

'क्या उस-सा ही कोई निराश, कोई उदास
होगा ऐसा विश्रान्त पथिक,
यह जीवन ही बन गया जिसे अविकल प्रवास !'

यह निराशा नरेन्द्र की कविता का ही नहीं, परन्तु आधुनिक काव्य-मात्र की आत्मा का लक्षण है। इतिहास के किसी युग में मनुष्य और जातियाँ अपनी प्रगति का मार्ग प्रशस्त देखते हैं और उनके साहित्य में उल्लास भर जाता है। ऐसा युग ग्रीस में पेरीक्लीज़ के ऐथेन्स, एलिज़वेथ के इंगलैण्ड और कालिदास के भारत में था। हिन्दी के कवियों ने भक्ति में अपनी आत्मा डुबाकर अपनी संस्कृति की रक्षा की थी। इस युग में संस्कृति की रक्षा कठिन दीख रही है और मनुष्य को अन्धकार में हाथ मारा नहीं सूझ रहा; कवि विकल अपनी तन्त्री सँभालता है, किन्तु गीत उसका उठ नहीं पाता। कवि समाज से विलग नहीं, अतः समाज की पीड़ा उसके गीत में भर जाती है।

नरेन्द्र ने अपते वक्तव्य में इस निराशावाद का गम्भीर और मार्मिक विवेचन किया है :

'ब्रिटिश सत्ता के स्तम्भ उच्च राज-कर्मचारी, ऊँचे पेशेवाले (बड़े वकील, डाक्टर, इंजिनियर), थोक माल ख़रीदने और बेचनेवाले व्यवसायी और व्यापारी, राजा और नवाब, बड़े ज़मींदार और ताल्लुक़ेदार, ये सब आज के उच्चवर्ग में शामिल हैं। इनकी शिक्षा, संस्कार और जीवन-चर्या इन्हें इस योग्य नहीं रहने देते कि ये हमारे साहित्य की ओर कृपा-कटाक्ष कर सकें। मध्य-वर्ग, जिसमें बेकार शिक्षितों, कवियों और लेखकों की भी गणना होनी चाहिए, के अन्तर्गत अदालती अहलकारों की श्रेणी से लेकर उच्च-वर्ग की ओर ऊर्द्ध्वमुख किन्तु अपने सौभाग्य के कारण अंशतः स्वयं सन्तुष्ट सफल सांसारिक आते हैं। स्पष्ट है कि इन पिछले सांसारिक जीवों के बीच साहित्यिकों के लिए कोई स्थान नहीं। तब क्या कवियों के इन्द्रधनुषी स्वप्नों और आध्यात्मिक आकाश-कुसुमों के गुण-

ग्राहक अकिंचन, पददलित, प्राकृत जनता में मिलेंगे, जब कि हमारी जनता को गला घोंटनेवाली ग़रीबी और ग़ुलामी के भार से साँस लेने तक की .फ़ुरसत नहीं !....ऐसी अवस्था में कवियों का निराशावादी हो जाना स्वाभाविक था....जिनकी दृष्टि अन्तर्मुख थी उन्हें सब 'हालीमैन' के रूप में दिखलाई पड़े और जिनकी प्रवृत्तियाँ बहिर्मुखी थीं, उनके सामने 'वेस्टलैण्ड' का प्रसार था ।....'

नरेन्द्र स्वयं निराशावादी नहीं हैं । आप प्रगति में विश्वास करते हैं । 'कला के मंदिर का यह पुजारी प्रेम, सत्य, शिव और सुन्दर पर आक्रमण करनेवाले आततायी सर्पों के साथ आमरण संघर्ष में संलग्न है। यह आधुनिक 'लाकून' क्या अपनी और अपनी कविता की रक्षा कर सकेगा ? यह निश्चित है कि जब तक वह व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की विषमताओं और उनसे प्रोत्साहन पाकर पैदा होनेवाले अन्तर के अविश्वास (भाग्यवाद) और दुःखवाद के दोनों विषधरों को तोड़ न डालेगा, तब तक वह अपने क्षयरोग का उपचार न कर सकेगा ।'

नरेन्द्र के काव्य में युग की पीड़ा है, किन्तु उससे भी अधिक किसी व्यक्तिगत पीड़ा ने 'प्रवासी के गीत' में कठिन अवसाद भर दिया है। सभी दिन 'मलिन ठीकरे-सा निष्प्राण' कवि नहीं था । 'प्रवासी के गीत' अधिकतर वियोग के गीत हैं, जो मनुष्य-जीवन के साथ लगे ही रहेंगे ।

नरेन्द्र प्रगतिवादी हैं । आपका विश्वास है कि 'आज का संक्रान्ति-कालीन जीवन शाश्वत नहीं, केवल सामयिक है ।' कवि को 'अपनी रक्षा करने के लिए सामाजिक और राजनीतिक प्रगति के साथ चलना होगा, दोनों क्षेत्रों में उसे क्रान्ति उपस्थित करने के लिए पूरा सहयोग देना होगा। एकाकी बने रहकर वह अपनी रक्षा न कर सकेगा।' आपकी 'प्रभात-फेरी' उस क्रान्ति की पुकार है :

'आओ, हथकड़ियाँ तड़का दूँ, जागो रे नतशिर वन्दी !
उन निर्जीव शून्य श्वासों में

'क्या उस-सा ही कोई निराश, कोई उदास
होगा ऐसा विश्रान्त पथिक,
यह जीवन ही बन गया जिसे अविकल प्रवास !'

यह निराशा नरेन्द्र की कविता का ही नहीं, परन्तु आधुनिक काव्य-मात्र की आत्मा का लक्षण है। इतिहास के किसी युग में मनुष्य और जातियाँ अपनी प्रगति का मार्ग प्रशस्त देखते हैं और उनके साहित्य में उल्लास भर जाता है। ऐसा युग ग्रीस में पेरीक्लीज़ के ऐथेन्स, एलिज़बेथ के इंगलैण्ड और कालिदास के भारत में था। हिन्दी के कवियों ने भक्ति में अपनी आत्मा डुबाकर अपनी संस्कृति की रक्षा की थी। इस युग में संस्कृति की रक्षा कठिन दीख रही है और मनुष्य को अन्धकार में हाथ मारा नहीं सूझ रहा; कवि विकल अपनी तन्त्री सँभालता है, किन्तु गीत उसका उठ नहीं पाता। कवि समाज से विलग नहीं, अतः समाज की पीड़ा उसके गीत में भर जाती है।

नरेन्द्र ने अपते वक्तव्य में इस निराशावाद का गम्भीर और मार्मिक विवेचन किया है :

'ब्रिटिश सत्ता के स्तम्भ उच्च राज-कर्मचारी, ऊँचे पेशेवाले (बड़े वकील, डाक्टर, इंजिनियर), थोक माल ख़रीदने और बेचनेवाले व्यवसायी और व्यापारी, राजा और नवाब, बड़े ज़मींदार और ताल्लुक़ेदार, ये सब आज के उच्चवर्ग मे शामिल हैं। इनकी शिक्षा, संस्कार और जीवन-चर्या इन्हें इस योग्य नहीं रहने देते कि ये हमारे साहित्य की ओर कृपा-कटाक्ष कर सकें। मध्य-वर्ग, जिसमें बेकार शिक्षितों, कवियों और लेखकों की भी गणना होनी चाहिए, के अन्तर्गत अदालती अहलकारों की श्रेणी से लेकर उच्च-वर्ग की ओर ऊर्ध्वमुख किन्तु अपने सौभाग्य के कारण अंशतः स्वयं सन्तुष्ट सफल सांसारिक आते हैं। स्पष्ट है कि इन पिछले सांसारिक जीवों के बीच साहित्यिकों के लिए कोई स्थान नहीं। तब क्या कवियों के इन्द्रधनुपी स्वप्नों और आध्यात्मिक आकाश-कुसुमों के गुण-

ग्राहक अकिंचन, पददलित, प्राकृत जनता में मिलेंगे, जब कि हमारी जनता को गला घोंटनेवाली ग़रीबी और ग़ुलामी के भार से साँस लेने तक की फ़ुरसत नहीं ?....ऐसी अवस्था में कवियों का निराशावादी हो जाना स्वाभाविक था....जिनकी दृष्टि अन्तर्मुख थी उन्हें सब 'हालीमेन' के रूप में दिखलाई पड़े और जिनकी प्रवृत्तियाँ बहिर्मुखी थीं, उनके सामने 'वेस्टलैण्ड' का प्रसार था ।....'

नरेन्द्र स्वयं निराशावादी नहीं हैं । आप प्रगति में विश्वास करते हैं । 'कला के मंदिर का यह पुजारी प्रेम, सत्य, शिव और सुन्दर पर आक्रमण करनेवाले आततायी सर्पों के साथ आमरण संघर्ष में संलग्न है। यह आधुनिक 'लाकून' क्या अपनी और अपनी कविता की रक्षा कर सकेगा ? यह निश्चित है कि जब तक वह व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की विषमताओं और उनसे प्रोत्साहन पाकर पैदा होनेवाले अन्तर के अविश्वास (भाग्यवाद) और दुःखवाद के दोनों विषधरों को तोड़ न डालेगा, तब तक वह अपने क्षयरोग का उपचार न कर सकेगा ।'

नरेन्द्र के काव्य में युग की पीड़ा है, किन्तु उससे भी अधिक किसी व्यक्तिगत पीड़ा ने 'प्रवासी के गीत' में कठिन अवसाद भर दिया है । सभी दिन 'मलिन ठीकरे-सा निष्प्राण' कवि नहीं था । 'प्रवासी के गीत' अधिकतर वियोग के गीत हैं, जो मनुष्य-जीवन के साथ लगे ही रहेंगे ।

नरेन्द्र प्रगतिवादी हैं । आपका विश्वास है कि 'आज का संक्रान्तिकालीन जीवन शाश्वत नहीं, केवल सामयिक है ।' कवि को 'अपनी रक्षा करने के लिए सामाजिक और राजनीतिक प्रगति के साथ चलना होगा, दोनों क्षेत्रों में उसे क्रान्ति उपस्थित करने के लिए पूरा सहयोग देना होगा। एकाकी बने रहकर वह अपनी रक्षा न कर सकेगा।' आपकी 'प्रभात-फेरी' उस क्रान्ति की पुकार है :

'आओ, हथकड़ियाँ तड़का दूँ, जागो रे नतशिर बन्दी !
उन निर्जीव शून्य श्वासों में

'चढ़ लपटों के स्वर्ण गरुड़ पर
फैलेगी जागृति की ज्वाला !'
'पल्लव के रुचिर किरीट पहन—
आता अब भी ऋतुराज वहाँ !'

अथवा—

'आयेगी वह कौन ताज-सी
आज स्वर्ण-हंसों के रथ में ?'

हिन्दी के सौभाग्य से अनेक व्यक्तिगत निराशाओं और विपत्तियों की मार से भी इस तरुण कवि के कण्ठ का गीत-स्रोत सूखा नहीं, वरन् अधिक तरल ही हो गया है। काव्य के पिछले मील-स्तम्भों को पीछे छोड़कर अब वह भविष्य का पथ खोज रहा है। उसके काव्य-प्राण में नवशक्ति भरी है। उसका छन्द मुक्त हो गया है : उसका नया प्रयास किसी हद तक प्रयोगात्मक है। कुण्डली मारे जो सर्प उसकी आत्मा पर जमा बैठा है, उसे वह कुच-लने की चिन्ता में लीन है। नरेन्द्र की सबल कविता 'ज्येष्ठ का मध्याह्न' हमें कुछ ऐसा अनुमान देती है :

'मध्याह्न-काल ज्यों अहि विशाल
केन्द्र में सूर्य,
शोभित दिन-मणि से गर्वोन्नत ज्यों सीस भाल !'

उस अजगर की मणि-सी ही चमक इस कविता में भी है। शक्ति की ओर जाते हुए इस सुकुमार कवि का भविष्य हिन्दी संसार उत्सुकता से देख रहा है और इस आशा से कि उसकी वाणी में 'अगणित तूफान और भूचालों का कम्पन' भर जावेगा।

'दिनकर'

हिन्दी के प्रगतिशील साहित्य में 'दिनकर' का अपना विशेष स्थान है। आपके काव्य ने प्राचीन परम्परा को त्याग समाज और संस्कृति के

बिगड़ते रूप को पहचाना है और इस भाव-जग में छन्द-रचना की है। 'दिनकर' की आत्मा को तरुण जीवन की उमड़ती उमंगों ने अपनी ओर खींचा है, किन्तु अकर्मण्य विलास-प्रिय संकुचित गुट को ही लोभनीय छन्द आपने निरन्तर नहीं लिखे। यद्यपि आपकी कविता युग-धर्म के अनुसार अन्तर्मुखी, गीत-प्राधान्य और दुःख में डूबी है, फिर भी आपकी चेतना देश और समाज की परिस्थितियों से विमुक्त नहीं हो सकी है। इस करुण-क्रन्दन के प्रति 'दिनकर' ने विवश होकर अपने कान नहीं बन्द कर लिये और न उनके छन्द निर्द्वन्द्व ज्ञान-चेतना के फल-स्वरूप 'गीत-नाद' ही बने हैं। 'दिनकर' का काव्य किसी जीवित 'विसूवियस' का गरम, उबला लावा है।

'रेणुका', 'हुंकार', 'द्वन्द्व गीत', 'रसवन्ती', 'कुरुक्षेत्र' दिनकर की अनेक रचनाएँ हमारे सामने आ चुकी हैं।

'हुंकार' में 'दिनकर' का परिचय इस प्रकार दिया गया है :

"'दिनकर' की आँखों ने अभी कुल तीस वसन्त देखे हैं।

"गंगा-किनारे के सिमरिया (ज़िला मुँगेर, बिहार) नामक किसानों के गाँव—घोर देहात—में जन्म लेकर भी पटना विश्वविद्यालय का वह सम्माननीय स्नातक है।

"उसके अपने विनोद के शब्दों में उसका आज का पेशा लोगों के बालिग़-नाबालिग़ होने का सर्टिफ़िकेट देना है, यानी वह सब-रजिस्ट्रार है।

× × ×

"गेहुँआ रंग, छरहरा बदन, गुलाबी चेहरा—दिल में धधकता अंगारा, जिसपर इन्द्र-धनु खेल रहे हैं!

अंगारा, जिस पर इन्द्र-धनु खेल रहे—दिनकर की आत्मा, रचना का यही संक्षिप्ततम परिचय है।"

'दिनकर' के काव्य की शुरुआत यौवन-सुलभ सौन्दर्योपासना से होती है। प्रकृति का सौन्दर्य, जीवन का शृंगार, रूप की प्यास :..

'व्योम-कुंजों की सखी, अयि कल्पने!
आ उतर, हँस ले ज़रा वनफूल में।'

बाद में युवावस्था के खौलते रक्त ने कवि की वाणी में भैरव-स्वर भर दिया :

'चाँदनी की अलकों में गूथ, छोड़ दूँ क्या अपने अरमान?
आह! कर दूँ कलियों के वन्द, मधुर पीड़ाओं के वरदान।'

'अमा-सन्ध्या', 'पाटलिपुत्र की गंगा', 'कोयल', 'निर्झरिणी', 'फूल', 'सायंचिन्ता', 'मिथिला में शरत्', 'वसन्त के नाम पर', 'फूलों के पूर्व-जन्म' आदि कविताएँ आपकी प्रकृति-साधना का प्रमाण हैं। अन्त में 'हिमालय' शीर्षक कविता में आपकी तपस्या के सभी अणु मिल गये हैं— प्रकृति का गौरव और अखण्ड चिर-समाधि :

'मेरे नगपति! मेरे विशाल!
साकार, दिव्य, गौरव विराट! पौरुष के पुंजीभूत ज्वाल!
मेरी जननी के हिम-किरीट! मेरे भारत के दिव्य भाल!'

बिहार-खण्ड का अमर अतीत इतिहास भी 'दिनकर' के काव्य में हमारी आँखों के सामने से गुज़र जाता है। पाटलिपुत्र, नालन्द, कपिल-वस्तु और वैशाली का वैभव :

'चल अतीत की रंग-भूमि में, स्मृति-पंखों पर चढ़ अनजान।'

'हिमालय' के प्रति आप कहते हैं :

'सुख-सिन्धु; पञ्चनद, ब्रह्मपुत्र, गङ्गा, यमुना की अमिय धार,
जिस पुण्यभूमि की ओर बही, तेरी विगलित करुणा उदार।'

यह पर्वत किसी अमर-तपस्या में सतत लीन रहा और देश का वैभव लुट गया :

'पूछे, सिकता-कण से हिमपति, तेरा वह राज-स्थान कहाँ
वन-वन स्वतन्त्रता-दीप लिये, फिरनेवाला बलवान कहाँ?

× × ×

वैशाली के भग्नावशेष से, पूछ लिच्छवी शान कहाँ,
ओ री उदास गंडकी ! बता विद्यापति के गान कहाँ ?'

इस प्रकार की साधना उसे इतिहास का दिग्दर्शन कराती हुई वर्तमान के पलों तक ले आती है :

'तू मौन त्यागकर सिंहनाद, रे तपी ! आज तप का न काल'

'समयह्रद की ओर सिसकते, मेरे गीत विकल धाये,
आज खोजके उन्हें बुलाने, वर्तमान के पल आये ।'

भारत के उज्ज्वल अतीत की आज की मलिन और धूमिल अवस्था से तुलना कर, कवि का हृदय व्याकुल, आक्रान्त हो उठा है। उसके काव्य की पृष्ठभूमि में राष्ट्रीयता की 'हुंकार' से जाग्रत भारत है। 'दिनकर' क्रमशः समाज के विकृत रूप की आलोचना वर्ग-संघर्ष के प्रतीकों से कर रहे हैं, किन्तु अभी आप इस दिशा में अधिक नहीं खुले। आपके गीतों में स्वतन्त्रता का सिंहनाद है और साम्राज्यशाही को आप चिर-शत्रु के रूप में देख रहे हैं। हमारी सामाजिक परिस्थितियों की आज यही माँग है।

कवि आज प्रलयंकर शंकर से फिर 'ताण्डव' नर्तन की अपेक्षा करता है :

'नचे तीव्र गति भूमि कील पर, अट्टहास कर उठें धराधर,
उपटे अनल फटे ज्वालामुख, गरजे उथल-पुथल कर सागर,
गिरें दुर्ग जड़ता का ऐसा, प्रलय बुला दो प्रलयङ्कर ।'

आप क्रान्ति का विश्व-व्यापी रूप देख रहे हैं। अन्य दलित देशों को जो सभ्यता का पाठ साम्राज्यशाही सिखा रही है, उसका वर्णन हमें आपके काव्य में मिलता है :

'शोणित से रँग रही शुभ्र पट, संस्कृति निठुर लिये करवालें,
जला रही निज सिंह-पौर पर, दलित, दीन की अस्थि-मसालें ।'

'विपथगा' क्रान्ति का चित्र है। क्रान्ति का आज आप व्यापक रूप देखते हैं। किसी भी ओर से वह निकल जायगी। क्रान्ति का बहुत प्रभावशाली शब्द-चित्र आपने खींचा है :

'मेरे मस्तक के छत्र-मुकुट वसु-काल-सर्पिणी के शत फन,
मुझ चिर कुमारिका के ललाट में नित्य नवीन रुधिर-चन्दन,
आँजा करती हूँ चिता-धूम का, दृग में अन्ध-तिमिर-अंजन,
संहार-लपट का चीर पहन नाचा करती मैं छूम-छनन !'

× × ×

'पायल की पहली चमक, सृष्टि में कोलाहल छा जाता है,
पड़ते जिस ओर चरण मेरे, भूगोल उधर दब जाता है।'

'दिनकर' को दलित दुखियों का कवि कह सकते हैं क्योंकि उन्हीं की दुर्दशा देखकर कवि का विचलित हृदय 'हुंकार' कर उठा है :

'वैभव के बल से जब समाज के, पाप पुण्य बन जाते हैं,
धन-हीन पुण्य को स्पृश्य नहीं, जब ईश्वर भी कर पाते हैं।'

× × ×

'श्वानों को मिलता दूध-वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं,
माँ की हड्डी से चिपक, ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं,
युवती के लज्जा-वसन बेंच, जब व्याज चुकाये जाते हैं,
मालिक जब तेल-फुलेलों पर, पानी-सा द्रव्य बहाते हैं, .
पापी महलों का अहंकार देता मुझको तब आमन्त्रण।'

इसी कारण 'दिनकर' के काव्य में विषाद का एक कठिन वातावरण बन गया है, यद्यपि कवि ने विजयोल्लास में उसे भुलाने का प्रयत्न किया है :

'मंजिल दूर नहीं अपनी, दुख का बोझा ढोनेवाले,
जागरूक की जय निश्चित है हार चुके सोनेवाले।'

निराशावाद के बादल हिन्दी-काव्य-संसार पर इतने ज़ोर से घिरे हैं कि अन्धकार में कवि को हाथ-मारा नहीं सूझता। 'दिनकर' की उजागर कल्पना ने दूर आकाश में बादलों को फटता देख लिया है, किन्तु फिर भी कवि अपने व्यथित हृदय का हाहाकार शान्त नहीं कर सका है :

'उर में दाह, कण्ठ में ज्वाला, सम्मुख यह प्रभु का मरुथल है,
जहाँ पथिक जल की झाँकी में, एक बूँद के लिए विकल है !'

'रह-रह पंखहीन खग-सा मैं, गिर पड़ता भू की हलचल में;
झटका एक बहा ले जाती, स्वप्न राज्य आँसू के जल में;

× × ×

'विभव-स्वप्न से दूर भूमि पर, यह दुखमय संसार कुमारी!
खलिहानों में जहाँ मचा करता, है हाहाकार, कुमारी!'

'नई दिल्ली' के कवि फिर अपने अतीत सपनों को याद करता है और आज की गिरी दशा पर आँसू बहाता है:

'वैभव की दीवानी दिल्ली, कृषक-मेघ की रानी दिल्ली!
अनाचार, अपमान, व्यंग की, चुभती हुई कहानी दिल्ली!'

× × ×

'ज़रा गिरा ले घूँघट अपना, और याद कर वह सुख-सपना,
नूरजहाँ की प्रेम-व्यथा में, दीवाने सलीम का तपना;
गुम्बज पर प्रेमिका कपोती, के पीछे कपोत का उड़ना,
जीवन की आनन्द-घड़ी में जन्नत की परियों का जुड़ना।'

कठोर, क्रूर काल ने कवि के हृदय में यह व्यथा भर दी है। किसी और युग और काल में वह भी रूप-जगत् का उपासक होता। अब भी जग के शान्त, स्निग्ध, अकिञ्चन रूप की झलक हमें उसके गीत में मिल जाती है:

'स्वर्णाञ्चला अहा! खेतों में उतरी सन्ध्या श्याम परी,
रोमन्थन करती गायें, आ रही रौंदती घास हरी,
घर-घर से उठ रहा धुआँ, जलते चूल्हे बारी-बारी,
चौपालों में कृषक बैठ, गाते कहाँ अटके बनवारी,
पनघट से आ रही, पीतवसना युवती सुकुमार,
किसी भाँति ढोती गागर, यौवन का दुर्वह भार,
बनूँगी मैं कवि, इसकी माँग, कलस, काजल, सिन्दूर, सुहाग,
वन-तुलसी की गन्ध लिये हलकी पुरवैया आती है,
मन्दिर की घण्टा-ध्वनि, युग-युग का सन्देश सुनाती है,

टिमटिम दीपक के प्रकाश में, पढ़ते निज पोथी शिशुगण,
परदेशी की प्रिया बैठ गाती यह विरह-गीत उन्मन।' आदि

ग्राम्य-जग की विभूति कवि ने सँजो-सँजोकर इस गीत में रखी है। यह शान्ति और स्निग्ध सौम्यता आज ग्राम-देश से कोसों दूर है। प्रबल बड़वानल के उद्‌गारों से विलोड़ित महोदधि का कम्पन आज कवि के गीतों में भर रहा है। एक अनन्य शक्ति, तेज और ज्वाला उसकी कविता की निधि है। क्रान्ति-सी उमड़ती हुई राष्ट्रीय सेना का वह गीतकार है। अदम्य गति उसके पैरों में भर रही है। अपना 'चाँदी का शंख' उठा वह भैरव-नाद करता है :

'फेंकता हूँ, लो तोड़-मरोड़, अरी निष्ठुरे! बीन के तार;
उठा चाँदी का उज्ज्वल शंख, फूँकता हूँ भैरव-हुंकार।'

जिस समाज में कलाकार रूप और शब्द-विलास छोड़कर जीवन की पुकार सुन रहे हैं, वह साहित्य और समाज बलिष्ठ है। पिछले वर्षों में 'दिनकर' अपने काव्य की इस पिछली परम्परा से विमुख हुए हैं और उनके काव्य का स्वर हल्का पड़ा है। उनकी आज की साहित्यिक गति-विधि हमें चिन्ता में डालती है।

'अज्ञेय' और 'शेखर'

१

हिन्दी साहित्य में आज जो व्यक्ति ध्यान आकर्षित करते हैं, उनमें एक 'अज्ञेय' भी हैं। उनका व्यक्तित्व रहस्यपूर्ण है। उनको पहचानना कठिन है।

'अज्ञेय' के पीछे कई पीढ़ियों की कुलीन संस्कृति है और इसका सुनहरा चमकता मुलम्मा आपके व्यक्तित्व पर चढ़ा है। किन्तु हम जानते हैं कि इस मिठास के पीछे एक उग्र, उद्धत उपेक्षा का भाव है, इसका प्रमाण आप का जीवन और रचनाएँ हैं।

'अज्ञेय' एक उच्च-मध्यकुल की सन्तान हैं। आपके परिवार में संस्कृत-शिक्षा की परिपाटी दीर्घ-काल से चली आ रही है। आपके पिता पुरातत्त्व-विभाग में ऊँचे ओहदे के कर्मचारी थे। किन्तु 'अज्ञेय' ने यह विरासत त्याग दी है। आप घर छोड़ आतंकवादी दल से मिले और भारतीय चिन्ता-धारा को तजकर एक नवीन सांस्कृतिक प्रयोग की ओर मुड़े। आपने ट्रॉट्स्कीवाद और रायिज़्म से नाता जोड़ा। फिर भी 'अज्ञेय' का व्यक्तित्व एक समन्वय अवश्य है, न-कार नहीं।

जेल में 'अज्ञेय' ने कहानियाँ लिखनी शुरू कीं जो 'विपथगा' नाम से छप चुकी हैं। आपके और भी कहानी-संग्रह छप चुके हैं। आपकी कविताओं का संग्रह 'भग्नदूत', आपके वृहत् उपन्यास 'शेखर' के दो खण्ड और 'चिन्ता' यह रचनाएँ प्रकाश में आ चुकी हैं। 'अज्ञेय' पैनी दृष्टि के आलोचक भी हैं। आलोचना-साहित्य की आपकी देन 'त्रिशंकु' प्रकाशित हो गया है।

यह भी लगता है कि यह व्यक्तित्व अपने में ही रमा, खुल नहीं पाता और कुण्ठित होकर रह जाता है। बूर्जुवा संस्कृति की पराकाष्ठा से घुटकर वह अन्तर्मुखी हो रहा है :

'मैं क्यों इस प्रकार अपने हृदय को चीरकर देखता हूँ? उसमें प्रेम है या व्यथा, सुख है या दुःख, आशा है या निराशा, प्रशस्ति है या तिरस्कार, यह जानने की चेष्टा क्यों करता हूँ! अपने को बहुत अधिक जानने से कोई लाभ नहीं होता, केवल क्लेश ही क्लेश होता है....'

['चिन्ता', पृष्ठ १३]

फिर भी वह जितना ही जग को पहचानने का प्रयास करता है, केवल अपने को ही पहचान कर रह जाता है!

'कभी-कभी—शायद सदी में एक बार—एक व्यक्ति ऐसा उत्पन्न हो जाता है जिसकी कामना की अपेक्षा उसका विवेक अधिक क्रियाशील होता है और रहता है। ऐसा व्यक्ति संसार में तहलका मचा देता है, किन्तु सुखी कभी नहीं हो पाता....संसार भर के दैन्य, दारिद्रय, दुःख में

छिपा हुआ नित्य भैरव तथा रौद्र रूप उसकी आँखों के आगे नाचता रहता है और उसे वास्तव को भुलाकर इच्छित की स्थापना का समय नहीं देता। संसार उसके काम को देखकर समझता है कि उसने बहुत कुछ किया, किन्तु इसी विवेक के आधिक्य के कारण, संसार की त्रुटियों की निकटतम अनुभूति के कारण, वह अपने आपको ऐसा विश्वास नहीं दिला पाता। वह आजीवन वैसा ही क्षुब्ध और अशान्त चला जाता है जैसा जीवन के आरम्भ में था....

'मैंने समझ लिया, मैं भी ऐसा ही प्राणी हूँ।' ['चिन्ता', पृष्ठ १५]

'अज्ञेय' अपना वर्णन इस प्रकार करते हैं :

'फूला कहीं एक फूल !
विपट के भाल पर,
दूर किसी एक स्निग्ध डाल पर,
एक फूल—
खिला अनजाने में।
मलय-समीर उसे पा न सकी,
ग्रीष्म की गरिमा झुका न सकी,
सुरभि को उसकी छिपा न सकी
शिशिर की मृत्यु धूल !
फूल था या आग थी जली जो अनजाने में !
जिसकी लुनाई देख विपट सुलझ गया—
सौरभ से जिसके समीरण उलझ गया,
भव निज गौरव को भूल गया,
सुमन के तन्तु की ही फाँसी से झूल गया,
'ऐसे फिर
जग की विभूतियों को छान कर
एक तीखे घूँट ही में पान कर

लाख लाख प्राणियों के जीवन की गरिमा
—हाय उस सुमन की छोटी-सी परिमा!—
मूर्च्छित हो कुसुम स्वयं ही वह चू पड़ा—
जानने को जाने किस जीवन की महिमा!'

'अज्ञेय' का व्यक्तित्व एक विफलता और अवसाद का भाव लिये है। इसका क्या कारण हो सकता है? क्यों आपकी कला में पीड़ित मानवता के लिए आशा की गूँज नहीं? क्यों तृषित के लिए आपकी रचना ओस की बूँद मात्र है?

'अज्ञेय' जी को मानव की सामूहिक शक्ति पर भरोसा नहीं। आप व्यक्तिवाद के क़ायल हैं और विद्रोही व्यक्ति को त्राण का उपाय समझते हैं, विद्रोही समाज को नहीं—ट्रॉट्स्की को, क्रान्तिकारी रूस के प्रतिनिधि स्टालिन को नहीं:

'जाने किस दूर वन-प्रान्तर से उठकर
आया एक धूलिकण।

ग्रीष्म ने तपाया उसे,
शीत ने सताया उसे,
भय ने उपेक्षा के समुद्र में डुबाया उसे,
पर उसमें थी कुछ ऐसी एक धीरता—
जीवन-समर में थी कुछ ऐसी वीरता,
जग सारा हार गया,
डाल हथियार गया
अपने कलंक को ही कालिमा के बिन्दु में
डूबा वह, या कि आत्म ताड़ना के सिन्धु में!....'

फिर भी शेखर की ही भाँति 'अज्ञेय' का व्यक्तित्व 'घोंघे' के अन्दर रहता है और उससे बाहर निकलने में घबराता है। आज कलाकार की कुलीन परम्परा अधिक पके फल के समान टूटकर गिरनेवाली है। किन्तु

अभी तक उसका दर्प और अहंकार एक अभिशाप बना है। आज की समाज में परम्परा और मर्यादा विहीन मज़दूर ही क्रान्ति का अग्रदूत बन सकता है। शिष्ट वर्ग केवल 'भग्न-दूत' है!

इस पृष्ठ भूमि में यह आश्चर्य की बात नहीं कि 'अज्ञेय' संस्कृति के अमरीकी व्यापारियों से अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं और उनके स्वर में स्वर मिलाकर उसे 'संस्कृति की स्वाधीनता' कहते हैं।

२

'शेखर' का प्रकाशन आज के हिन्दी साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण घटना है।

'शेखर' हिन्दी की उपन्यास-कला में एक नवीनतम प्रयोग है और हिन्दी के इस निर्माण-काल में कला की प्रवृत्तियों से परिचित होना ज़रूरी है।

'शेखर' एक ही व्यक्ति का चित्र है, यद्यपि उसके दाएँ-बाएँ कुछ और भी अस्पष्ट-से छाया-प्राणी हैं। 'शेखर' स्वयं भी कुछ अस्पष्ट रह जाता है, क्योंकि प्रस्तुत पुस्तक उसके अन्तर्मन की कहानी है और अन्तर्मन धुँधला ही रहता है। 'शेखर' बाह्य जगत का प्राणी नहीं; उसके जीवन में कोई घटनाएँ नहीं-सी घटीं। वह घोर अन्तर्द्रष्टा (Introvert) है; छोटी बातें उसके लिए विशाल आकार धारण कर लेती हैं। इसी कल्पना के शीशमहल में उसका जीवन कटता है : 'जहाँ सूर्यास्त के सोने का टापू है और जहाँ इन्हीं नीलिमा में घुल जानेवाले बादलों से बने हुए सूत के वस्त्र पहननेवाली राजकन्या रहती है....।'

यही कारण है कि शेखर अकेला है। वह सदा ही 'घोंघे' के भीतर रहता है : 'जब वह भूखा होता है या जब वह एक प्रणयी खोजता है, तभी वह घोंघे के बाहर निकलता है।' अपने अन्तर्मन की प्रतिक्रियाओं से जकड़ा असहाय बन्दी वह जीवन-यापना करता है। पानी से उसे विशेष मोह है और अनेक बार वह डूबता है। अन्त में उसकी मृत्यु-फाँसी से न होकर पानी से ही होनी चाहिए।

इसी शेखर के जीवन-सूत्र लेखक ने सुलझाए हैं। शेखर विद्रोही है। वह सभी कुछ बदलना चाहता है, धर्म, समाज, राजसत्ता, अर्थसत्ता और अपना व्यक्तित्व। वह 'एतादृशत्व, Thusness मात्र' का विरोधी है। शेखर के जीवन में कठोर वेदना भर गई है और जब वह उसके मन में समाए नहीं समाती, करुण क्रन्दन में फूट-फूटकर वह निकलती है: 'हाय, मानव के छोटे से मस्तिष्क और हाय, भव के विराट् सत्य !'

शेखर ने क्रान्ति का अपना आदर्श हमारे सामने उपस्थित किया है। वह बन्धनहीन जीवन माँगता है: 'शुभ्र, स्वच्छ, संगीतपूर्ण, अरुद्ध, निरन्तर, सचेष्ट और प्रगतिशील, घरबार के बन्धनों से मुक्त और सदा विद्रोही।' शेखर को आज के परिवार और समाज के बन्धनों ने 'निहिलिस्ट' बना दिया है; वह घोर असामाजिक प्राणी बन गया है। वह सब कुछ तोड़ डालना चाहता है। किन्तु उसके आगे बनावेगा क्या, वह नहीं जानता। वह विज्ञान के सिद्धान्त का आश्रय लेकर बचना चाहता है कि प्रकृति में ख़ालीपन नहीं रहता।

शेखर विद्रोह की आराधना में रहस्यवादी बन गया है। वह कहता है कि विद्रोही जन्मते हैं, बनते नहीं। परिस्थितियाँ विद्रोह-बुद्धि नहीं बना सकतीं। इस तर्क-प्रणाली के अनुसार सामाजिक क्रान्ति ट्रॉट्स्की जैसे असाधारण व्यक्तियों का मुँह देखती रहेगी कि कब क्या हो।

हमारे समाज ने व्यक्ति को आज चारों ओर से जकड़ रखा है। इसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया है शेखर का व्यक्तित्व। यह हमारे युग की ही विभीषिका है कि शेखर ऐसे व्यक्तित्व जीवन के निर्माण में न लगकर ध्वंस में पड़ते हैं। किन्तु उन्हें आशा का आलोक नहीं दीखता, क्योंकि वे अकेले हैं, व्यक्तिवादी हैं, सामाजिक क्रान्ति के पथ से अलग चलते हैं।

'शेखर' के शिल्प के लिए पाठक के मन में आदर हो सकता है। लेखक कहता है:—

'शेखर: एक जीवनी' जो मेरे दस वर्ष के परिश्रम का फल है....

साहित्य का हमें सिंहावलोकन कराती हैं। इन पुस्तकों में लेखक के कुछ मौलिक गुण अनायास ही झलक जाते हैं; वे हैं द्विवेदीजी की आलोचना-पृष्ठ-भूमि में एक अभिनव सहृदयता, भावुकता और अनुभूति। आप आलोचना के क्षेत्र में कवि और दार्शनिक हैं और अपनी अनुभूति से सहज ही रस अर्जन कर लेते हैं। आधुनिक हिन्दी-साहित्य का इतिहास भी इन निबन्धों को कह सकते हैं, यद्यपि यह इतिहास सरसरी तौर का है।

इन निबन्धों का एक निजी गुण इनकी पुष्ट सौरभमयी भाषा है, जिसे लेखक ने यत्न से गढ़ा है। अकसर यह भाषा गद्य-काव्य की परिधि में पहुँची है और इसके शब्द-चित्रों में नूतनता और मार्मिकता के गुण हैं। संस्कृत के भार से तो यह बोझिल है ही, किन्तु कहीं-कहीं अंग्रेज़ी के शब्दों का भार भी इसे दबाये है। इसे दोष कह सकते हैं। पन्तजी की 'युगवाणी' के प्रति आपका कथन है :

'जिस गद्य-भाषा में पन्त नवीन मानवता के विचार दे रहे हैं, उन विचारों में शुष्क मैटर आफ फ़ैक्ट तो है किन्तु कला का फ़्लो और फ़ोर्स नहीं।'

अँग्रेजी के शब्दों का बहिष्कार हो, इसके हम पक्ष में नहीं हैं, किन्तु इस प्रकार हिन्दी शब्दों का बहिष्कार भी ठीक नहीं है।

द्विवेदीजी के विचारों की पृष्ठ-भूमि विश्व-साहित्य का बहुत कुछ अध्ययन और मनन है, अध्ययन से अधिक मनन। टॉल्सटॉय, रविबाबू और शरद् की कला के साहचर्य्य से आपके विचार मँजे और परिपक्व हुए हैं। आप कला के साधक हैं, किन्तु कला की पुकार को मानवता से पृथक् नहीं समझते। आपकी सहृदयता ने दोनों में एक सामंजस्य पा लिया है, और इसी कारण आप गुण-विवेचन में अधिक लीन हैं, दोषों की छानबीन में नहीं।

'कवि और काव्य' में आपने कला और काव्य के रूप की सरस मीमांसा की है, बाद में पुरातन और नूतन काव्य की विवेचना। 'ब्रजभाषा का माधुर्य-विलास', 'भक्तिकाल की अन्तर्चेतना', 'प्राचीन हिन्दी कविता', 'मीरा का तन्मय सङ्गीत', 'ब्रजभाषा के अन्तिम प्रतिनिधि (रत्नाकर)' आदि बातों

को पार करती हुई आपकी आलोचना-सरिता भारतेन्दु-साहित्य, 'आधुनिक हिन्दी कविता', 'औपन्यासिका', 'कविता और कहानी', 'छायावाद का उत्कर्ष', 'नवीन काव्य-क्षेत्र में महिलाएँ', 'समालोचना की प्रगति', 'हमारे साहित्य का भविष्य' आदि मंज़िलों का हमें दर्शन कराती है। इस प्रकार हिन्दी के नवीन और पुरातन साहित्य की रूप-रेखा का एक दिग्दर्शन हमें हो जाता है।

'साहित्यिकी' और 'सञ्चारिणी' में नवीन हिन्दी कविता का चित्र हमें और भी पुष्ट रेखाओं में मिलता है। 'सञ्चारिणी' तो नयी कविता के कल तक के इतिहास से हमें परिचित कराती है। इन निबन्धों में द्विवेदीजी ने नवीन हिन्दी कविता का काल-विभाग किया है, कवियों और कवयित्रियों का परिचय दिया है और काव्य की आत्मा का सूक्ष्म दार्शनिक निरूपण किया है। यह विशद्, विस्तृत और सूक्ष्मदर्शी विवेचना आलोचक की भूमिका में आपका महत् कार्य है।

'छायावाद' का काल-विभाग आपने इस प्रकार किया है : १—प्रसाद की काव्य-प्रतिभा (छायावाद की आरम्भिका), २—माखनलाल, पन्त, 'निराला', महादेवी, रामकुमार, 'नवीन' इत्यादि मुक्तक विकास, ३—गीतिकाव्य, ४—पन्त का 'युगान्त' चिन्तन।

'सम्प्रति गीतिकाव्य की दिशा में दो स्कूल प्रचलित हुए : १. महादेवी-स्कूल, २. 'निराला-स्कूल।'

'युग और साहित्य' में आपने आधुनिक साहित्य को सामाजिक और राजनैतिक पृष्ठ-भूमि में रखकर परखा है। यह विवेचना भावुकतापूर्ण है और हिन्दी में आजकल ठोस वैज्ञानिक दृष्टिकोण का मूल्य बढ़ रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी-साहित्य की नवीनतम धाराओं से परिचय रखकर द्विवेदीजी आलोचना-क्षेत्र में बढ़ रहे हैं। यह शुभ चिह्न है। आप कला के पार्श्व में मानवता का स्थान पहचान रहे हैं और इसी कारण जो साहित्य और कला का कायाकल्प हो रहा है, उसके प्रति

घनीभूत वेदना की केवल एक रात में देखे हुए vision को शब्दबद्ध करने का प्रयत्न है।....

'एक मास जब मैं लाहौर क़िले से अमृतसर जेल ले जाया गया, तब लेखन-सामग्री पाकर मैंने चार-पाँच दिन में उस रात में समझते हुए जीवन अर्थ और उसकी तर्क-संगति को लिख डाला। पेंसिल से लिखे हुए वे तीन-एक-सौ पन्ने 'शेखर : एक जीवनी' की नींव हैं। उसके बाद नौ वर्ष से अधिक मैंने उस प्राणदीप्ति को एक शरीर दे देने में लगाए हैं।'

'शेखर' को हम चार भागों में देखते हैं। 'प्रवेश' जो कथा की पट-भूमि है, जिस पर कुछ रेखाएँ खींची गई हैं; बाद में यह रेखाएँ अधिक दृढ़ और सुस्पष्ट बनाई गई हैं। इस कथा का क्रम है : शैशव, विकास और परिपक्वता।

शैशव में पारिवारिक बन्धन और स्कूल के नियन्त्रण से शेखर की विरोध-बुद्धि चेतना प्राप्त करती है। उसके जीवन में दो अंकुर उगते हैं : अनीश्वरवाद और प्रणय की आकांक्षा। आगे चलकर यह अंकुर बलशाली बन जाते हैं।

'शेखर' की घटनाओं में कोई सुलझा तारतम्य नहीं। 'शेखर' को 'अनेक असम्बद्ध चित्र' भी कहा जा सकता है। किन्तु यह चित्र बनाए गए हैं बड़ी लगन से और परिश्रम से।

यही कारण है कि 'शेखर' की कथा धीर, मंथर गति से आगे बढ़ती है और उसके प्रवाह में रव कम है।

शान्तिप्रिय द्विवेदी

पिछले वर्षों में हिन्दी साहित्य बहुत वेग से बढ़ा है और सभी क्षेत्रों में आशातीत उन्नति हुई है, आलोचना के क्षेत्र में भी। आलोचना साहित्यिक सत्य की खोज है, व्यक्तिगत पक्षपात और कलह-द्वेष से परे;

किन्तु हिन्दी आलोचना अब भी कभी-कभी सिद्धान्त को भूल कर व्यक्ति का मुँह देखकर चलती है।

इसका यह तात्पर्य नहीं कि हिन्दी में उच्च कोटि के आलोचक पैदा नहीं हो रहे। हिन्दी आलोचना के पथ-दर्शक महारथी साहित्यकार हो चुके हैं, जिनमें हम स्व० महावीरप्रसाद द्विवेदी, बा० श्यामसुन्दरदास मिश्रबन्धु और पं० रामचन्द्र शुक्ल को गिनते हैं।

हिन्दी आलोचना में एक गम्भीर परिवर्तन भी हुआ है। द्विवेदी-युग के आलोचक शास्त्रीय आलोचना करते थे। उस परम-पाण्डित्यपूर्ण विवेचन में एक स्थूल काया अवश्य थी, किन्तु रस अथवा भावना नहीं। आज हिन्दी आलोचना में जो सहृदय साहित्यिक काम कर रहे हैं उनमें श्रीहजारीप्रसाद द्विवेदी, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, श्रीशिवदानसिंह चौहान, डा० रामविलास शर्मा, श्री नगेन्द्र, बा० गुलाबराय, डा० देवराज, श्री सत्येन्द्र और श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी विशेष उल्लेखनीय हैं।

शान्तिप्रिय द्विवेदी बहुत मुख्तसर से आदमी हैं। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के शब्दों में आप 'लाइट-वेट चैम्पियन' हैं। आपके जीवन में भाग्य ने पीड़ा कूट-कूटकर भरी है। असम्पन्नता के साथ-साथ वज्र-प्रहार आपके ऊपर हुआ, जब आपकी बड़ी बहन दिवंगता हुईं। आपने अपने जीवन-सम्बन्धी अनेक निबन्ध लिखे हैं, जिनका संग्रह निकल चुका है। 'प्रवास' शीर्षक एक निबन्ध 'साहित्यिकी' में भी है। और भी आपके साहित्यिक लेखों में आत्मकथा का पुट मिलता है; जैसे 'सांस्कृतिक कवि मैथिलीशरण' में। शायद कभी आप अपनी 'जीवन-कथा' लिखें। इस क्षेत्र में भी हिन्दी का साहित्य सीमित है। 'कुल्लीभाट' और 'मेरी असफलताएँ' इस दिशा में सराहनीय प्रयास हैं।

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी की साहित्यिक प्रगति के पग हैं १—'हमारे साहित्य-निर्माता'; २—'कवि और काव्य'; ३—'साहित्यिकी'; ४—'सञ्चारिणी'; ५—'युग और साहित्य'। यह पुस्तकें हिन्दी के आधुनिक-

आपकी निरी उपेक्षा नहीं है और द्विवेदी-युग के आलोचकों ने 'छायावाद' को पहचानने में जो ग़लती की थी—और जीवन-तरंगों से विमुख कितावी-कीड़े आलोचक जो ग़लती आज दुहरा रहे हैं—इस प्रकार आप उससे बच सके हैं।

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी ने शास्त्रीय आलोचना का आँचल छोड़कर अपने निजी अध्ययन, मनन, अनुभव और परख से जो नवीन साहित्य की गम्भीर विवेचना की है, वही हिन्दी आलोचना में आपका बड़ा काम है। आपने आलोचना-शास्त्र को तो कुछ नये अस्त्र नहीं दिये, किन्तु हिन्दी आलोचकों को अवश्य एक नवीन पद्धति और गति विधि सिखाई है। हिन्दी आलोचना को आपने नवीन दृष्टि दी है। नीरस और निर्जीव काव्य-शास्त्रियों का दृष्टिकोण त्यागकर आपने आलोचना को सरस, सजीव और मर्मस्पर्शी बनाया है।

पं० रामचन्द्र शुक्ल को ध्यान में रखते हुए श्री रामकुमार वर्मा आपके प्रति कहते हैं : 'कुएँ की गहराई की अपेक्षा सरोवर का यथोचित गहराई लिये हुए समतल और विस्तार इन लेखों में मिलेगा।' शायद इस मंतव्य से किसी का विरोध न हो।

साहित्य और सुरुचि

कला की उत्पत्ति और आरम्भिक गति धर्म के अन्तर्गत हुई। गीत और नाट्य देवता की अर्चना हेतु जन्मे। सृष्टि के अनुपम सौन्दर्य और अकथ रहस्य के प्रति मनुष्य ने शब्द और संगीत में अपनी कृतज्ञता प्रकट की। चित्रकला और स्थापत्य कला भी देव-मंदिर सजाने के हेतु विकसित हुए। नाटक ग्रीस और ईसा के यूरोप में मंदिर और गिरजाघर में जन्मे और बढ़े। इसी कारण हम कला को धार्मिक माप-दण्डों से नापते हैं।

किन्तु कालान्तर में कला धर्म के प्रभाव से मुक्त हुई और कला के माप भी बदले।

भारत में भी काव्य और गीत का जन्म देवस्तुति के हेतु हुआ। वेद प्राचीन भारतीयों की देवताओं के प्रति श्रद्धाञ्जलि हैं और हमारे चिरस्मरणीय गीतिकाव्य भी।

पुजारियों के प्रभाव से निकलकर कला जनसंघों और सामन्ती वर्गों की देख-रेख में बढ़ी और फली-फूली। इङ्गलैण्ड के नाटक, संस्कृत काव्य और हिन्दी की पुरानी कविता का भी यही इतिहास है। यह साहित्य इन जनसंघों और वर्गों की रुचि का परिचायक था। आज संसार का साहित्य मध्य वर्ग की सृष्टि है और उन्हीं की रुचि का प्रतिनिधि है। हमारा समाज जब मुक्त होगा, तब संस्कृति भी परम्परागत जीर्ण-शीर्ण कसौटियों से मुक्त होगी।

कला के धर्म से पृथक् स्वतंत्र माप हैं। कला में भी समाज की भाँति सुरुचि और कुरुचि की कसौटियाँ बदली हैं। किन्तु फिर भी कुछ आलोचक, जिन पर काल की गति का कुछ असर नहीं हुआ, धार्मिक मापों में कला को तौलते हैं। सुरुचि और कुरुचि की कसौटियाँ बदलती रहती हैं, यह हमें दक्षिण के विशाल मंदिर और कोणार्क का सूर्य-मंदिर अब भी बतलाते हैं; इन मंदिरों की नक़्क़ाशी भी सुरुचि का कोई अद्भुत नियम मानकर चली होगी।

जब हम किसी कलाकार की युगान्तरकारी कृति को अपने रूढ़िबद्ध अधपके विचारों से जाँचते हैं, तो इतिहास की याद कर हमें कुछ रुकना भी चाहिये। वर्ड्सवर्थ, शैली, कीट्स, बायरन, स्विनबर्न कौन आलोचकों का कोप-भाजन नहीं बना? वर्ड्सवर्थ की नवीन कला शैली को न समझने के कारण 'एडिनबरा रिव्यू' के प्रसिद्ध सम्पादक जैफ़री ने कहा: 'इससे कभी काम न चलेगा, मि० वर्ड्सवर्थ, कभी नहीं!' कीट्स के लिए 'ब्लैकवुड' ने लिखा: 'अपने दवाख़ाने को वापस जाओ, मि० कीट्स,

और गोलियाँ बाँधो। कहते हैं कि इस विषैली फूंक ने कवि का जीवन-दीप बुझा दिया। शैली और बायरन समाज से बहिष्कृत और तिरस्कृत प्रवास में जीवन-पर्यन्त रहे। स्विनबर्न जिसे शैली का दूसरा जन्म मानते हैं, शैली की ही भाँति ऑक्सफ़र्ड से निकाला गया।

हम कूप-मंडूक बने भी सदैव नहीं रह सकते। जिस संकुचित वातावरण में हम रहते आये हैं, उससे निकलकर समय और संसार की गति भी हमें समझनी चाहिए। काल-नदी प्रबल वेग से हमारी पीठ के पीछे बह रही है। कब तक उधर से हम मुँह मोड़ रहेंगे? जीवन गतिशील है, और हम साहित्यकार भी स्थिर नहीं रह सकते। जड़ता मृत्यु का लक्षण है। सुरुचि की पराकाष्ठा तो गुटबन्दी और व्यक्तिगत विद्वेष से बचकर चलना है।

प्रत्येक युग और देश की रुचि भी भिन्न होती है। जो साहित्य शेक्सपियर के युग में संयत और स्वाभाविक समझा जाता था, वह हमारी दृष्टि में अश्लील है। किन्तु उसका महत्त्व अश्लीलता और युग-धर्म से अलग उसकी जीवन-प्रेरणा पर निर्भर है। 'ऑथेलो' का अखंडित संस्करण क्लास में पढ़ाना असंभव है, फिर भी 'ऑथेलो' संसार के सर्वश्रेष्ठ दुःखान्त नाटकों में है। चार्ल्स द्वितीय के युग में अँग्रेज़ी नाटक की अश्लीलता ने अति कर दी। यह अश्लीलता राज-दर्बारों के विलास की चीज़ थी, अतः इसे हम हेय समझते हैं।

इसी प्रकार रीतिकाल का हिन्दी काव्य राज-दर्बारों की विलास-सामग्री बन गया था। साहित्य की कसौटियों पर वह खरा सोना नहीं उतरता, क्योंकि उसकी अश्लीलता केवल मनोरंजन का साधन थी। बाल्मीकि की रामायण अथवा अन्य धर्मग्रंथों में जो स्थल हम अश्लील समझते हैं, वे वास्तव में अश्लील नहीं। जीवन के किसी भी सच्चे और सम्पूर्ण चित्र में इस प्रकार का वर्णन अनिवार्य है। जीवन का एक अंश 'सेक्स' (Sex) भी है, यद्यपि जीवन 'सेक्स' से बढ़कर है। इस प्रकार हमारे धर्म-ग्रन्थों के अंश और आधुनिक साहित्य का यथार्थवाद वास्तव में अश्लील नहीं।

सुरुचि के हमारे माप बदले हैं और पहले से अधिक प्रशस्त हैं। जब कला राजदर्बारों के ऊपर अपनी जीविका के लिए निर्भर थी, तब उसमें अश्लीलता की मात्रा भी अधिक थी; क्योंकि अकर्मण्य, विलासमय जीवन में काम सम्बन्धी चर्चा भी अधिक रहती है। लोक-जीवन पर निर्भर कला निर्मल और सच्ची होगी। वह जीवन के सभी महत्त्वपूर्ण अङ्गों को छुएगी। हमारा मध्यवर्ग जिसकी निर्मित संस्कृति में हम साँस लेते हैं, अर्थ का तो उपासक है, किन्तु काम अथवा मोक्ष का नहीं। हमारी कला में अपेक्षाकृत अधिक संयम है। हिन्दी के आधुनिक काव्य की रीतिकाल के काव्य से तुलना करके देखिए, अथवा शॉ की शेक्सपियर से। शॉ तो 'प्यूरिटन' है, उसका संसार स्वच्छ निर्मल है। हिन्दी का आधुनिक काव्य रीतिकाल के चतुर प्रौढ़ नायक की तुलना में भोला शिशु है।

किन्तु जीवन के नग्न सत्य में हमें डरना भी उचित नहीं। जो पाठक 'निराला' की 'बिल्लेसुर बकरिहा' अथवा 'चमेली' नहीं पढ़ सकते अथवा पन्त की :

'उकसे थे अम्बियों-से उरोज' पढ़कर चौंकते हैं, वे निरामिष-भोजी न जाने देव, मतिराम, बिहारी अथवा शेक्सपियर और कालिदास कैसे पचाते हैं।

आलोचक को यह देखना है कि चित्र में एकरसता है अथवा नहीं। क्या लेखक केवल स्वच्छन्दता-वश अथवा जो बिक्री के ख़्याल से असंयत और अश्लील हो रहा है, अथवा जो विषय उसने उठाया है, उसमें निर्मम सत्य की आवश्यकता है? यह भी हमें नहीं भूलना चाहिए कि अश्लीलता-दोष होने पर भी कला का मूल्य हो सकता है। क्या वाल्मीकि, कालिदास और शेक्सपियर निकृष्ट कलाकार थे? जिस प्रकार की आलोचना हम आज भी देखते हैं, उसके सामने यह सभी दोषी होते। एक सीढ़ी उतरकर—क्या देव, बिहारी, केशव, मतिराम हिन्दी-साहित्य के दूषण हैं, क्योंकि अश्लीलता-दोष से वे भी परे नहीं?

तीय संस्कृति का पुनर्जन्म हो रहा है; इसका कारण भारत की राष्ट्रीय जाग्रति है।

आर्य-आगमन से पूर्व भी इस देश में एक आदिम संस्कृति व्यापक रूप में मौजूद थी। इसके चिह्न मोहेंजोदारो और हरप्पा में अवशिष्ट हैं। उसकी एक अटूट धारा द्राविड़ संस्कृति के रूप में दक्षिण में वर्तमान है। आर्य जाति ने प्रकृति के मधुर और रौद्र रूप से प्रेरणा पाकर अमर छन्दों की रचना की। आर्य जाति क्रमशः भोजन की खोज में घूमना छोड़ पंच-नद और गंगा की उर्वर भूमि में बसकर एक कृषि-प्रधान संस्कृति की रचना कर गयी, जिसमें सूर्य, वरुण और इन्द्र की उपासना प्रधान है और इन्हीं शक्तियों को इस जाति ने अपने काव्य का अर्घ्य दिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य और संस्कृति में परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है, और जाति-विशेष की संस्कृति और उसकी सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था में। संस्कृति समाज से अलग कोई हवा में तैरती दैवी वस्तु नहीं, जिसे 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' कहते हैं। वास्तव में सत्य, शिव और सुन्दर का रूप भी युग-विशेष और समाज-विशेष के अनुकूल बदला करता है। जीवन स्थिर, जड़, अचल नहीं—पल-पल पर परिवर्तित और विकासमान है।

अब पल भर भारतीय संस्कृति और साहित्य के सम्बन्ध को देखना चाहिए। आदिम युग से जब हम इतिहास के आलोक में आते हैं, तभी से भारतीय संस्कृति का लालन-पालन राज-सभाओं में हुआ। कालिदास और भवभूति राजकवि थे। चन्दबरदाई और जगनिक राज-दरबारों के चारण थे। इसके विपरीत जनता की संस्कृति का जन्म अलग हुआ और उसका पालन-पोषण जन-पथों पर हुआ। इस संस्कृति में अदम्य शक्ति-प्रवाह था और इसकी लहरों की बाढ़ दरबारों तक पहुँची। इस संस्कृति को भक्ति-पंथ कहा गया। अनन्य जीवनी-शक्ति के कारण ही भक्ति-काल के काव्य को हम इतना महत्त्व देते हैं। किसी संकुचित वर्ग की रुचि का

भोजन अथवा विलास-सामग्री वह कविता न थी। जन-पथ के मनोभाव इस कविता में प्रतिबिम्बित हैं।

रीतिकाल का काव्य इसके ठीक विपरीत एक वर्ग-विशेष का अनुचर रहा। उसका जीवन राजसभाओं के संकुचित वातावरण में बीता। इस कारण एक सूक्ष्म गुट ही इस कविता का आनन्द भोग सका। यह कहा जाता है कि संस्कृति जन-साधारण के भोग की वस्तु नहीं। इसका उपभोग विरले भाग्यवान् ही कर सकते हैं, जिनको भगवान् अवकाश में गढ़ता है। किन्तु तुलसी अथवा सूर तो किसी संकुचित वर्ग की सम्पत्ति नहीं। बर्न्स (Burns) ने किसान होते हुए भी उच्च कोटि की काव्य-रचना की, और कबीर ने निम्न श्रेणी का जुलाहा होते हुए अथवा रैदास ने चमार होते हुए भी हिन्दी में अच्छी कविता की। संस्कृति किसी वर्ग की पूँजी नहीं हो सकती। यह सच है कि इतिहास के चक्र-परिवर्तन से सत्ता जिस वर्ग के हाथ में रहती है, संस्कृति उसके अनुकूल होती है।

कालान्तर में सामन्ती सत्ता का अन्त हुआ और मध्य-वर्ग की संस्कृति का सिक्का संसार में चला। पहले मध्य-वर्ग भी संस्कृति के लिए अपदार्थ समझा जाता था, और संस्कृति केवल सामन्ती वर्गों की निधि समझी जाती थी। सामन्ती संस्कृति में विलास और भोग की गन्ध थी। इसकी प्रतिध्वनि हमें मध्य युग के साहित्य में भी मिलती है :

> 'कुन्दन से आँग माँग मोतिन सँवारी सारी
> सोहत किनारी वारी केसर के रंग की।'

अथवा,

> 'चरन धरै न भूमि विहरै तहाँई जहाँ
> फूले-फूले फूलन बिछायो परजंक है।'

अनुप्रासमयी भाषा में 'प्याला, मसाला, तान, तुक ताला' खोजते हुए इस कविता का कृत्रिम, अस्वाभाविक जीवन बीता।

फ्रांस का राष्ट्र-विप्लव सामन्तशाही के अन्त-दिवस की सूचना था,

यद्यपि नई दुनिया की खोज के साथ-साथ ही एक नवीन संस्कृति की बुनियाद पड़ चुकी थी। पूँजीवाद पर यह संस्कृति अवलम्बित है और रुपया इसका जीवन-प्राण है। धन के बल पर ही इस संस्कृति का उपभोग हो सकता है। संगीत, साहित्य और कला का रस धनवान ही ले सकते हैं। निर्धन के लिए इस मन्दिर के द्वार बन्द हैं।

इस व्यवस्था को न्यायसङ्गत सिद्ध करने के लिए धर्म और दर्शन का आश्रय लिया जाता है। कला और साहित्य के पारखी कुछ मुट्ठी भर जौहरी ही हो सकते हैं! गलियों में हीरे की पहचान करनेवाले कहाँ? परमात्मा ने बुद्धि सबको एक समान नहीं दी, न धन! जीवन की इस विशिष्ट निधि को विरले ही परख पाते हैं, इत्यादि।

भारत में विदेशी शासन के कारण मध्य-वर्ग की सत्ता अभी तक नहीं जम पाई है। सामन्तशाही का यहाँ अब भी प्रभुत्व अवशेष है। विदेशी पूँजी का सिक्का यहाँ चलता है। अतः, भारतीय मध्य-वर्ग संस्कृति का स्वप्न ही देखा करता है। स्वाधीनता होने की अभिलाषा ने अवश्य भारतीय साहित्य और कला में जीवन-संचार किया है।

जीवन की भौतिक परिस्थितियों से निराश होकर यह साहित्य अन्तर्मुखी हो रहा है और घोर निराशा के वातावरण में अपना जीवनयापन करता है। पराजित और हताश भारतीय मध्य-वर्ग का कवि क्रन्दन कर उठता है :

'मैं जीवन में कुछ कर न सका।
जग में अँधियाला छाया था,
मैं ज्वाला लेकर आया था,
मैंने जलकर दी आयु बिता,
पर जगती का तम हर न सका।'

जीवन की कठोर वास्तविकता को भूलकर हमारे मध्य-वर्ग का कलाकार कल्पना के गीत रचता है। इस प्रवृत्ति का नाम साहित्यिक भाषा में

छायावाद है। इस प्रकार हमारी सामाजिक व्यवस्था की छाप हमारी संस्कृति और कला पर है।

हम समझते हैं कि संस्कृति सर्वसाधारण के लिए वर्जित ही रहेगी। हम शाश्वत सत्य की बात करते हैं। संस्कृति हमारी समझ में कोई परम सुकुमार और कोमल चीज़ है, जिसका जीवन रेशम के डोरों से बँधा है और जो स्वप्न की भाँति सहज-भग्न है। अतः, सर्वसाधारण और संस्कृति ये दो परस्पर विरोधी शब्द माने जाते हैं।

शायद इस कल्पना की संस्कृति में पला मनुष्य मदिर अलस स्वप्नों की दुनिया में रहता है और कभी स्वर ऊँचा कर नहीं बोलता। वह रेशमी वस्त्र पहने कोमल संगीत सुनता है, अथवा किसी छायावादी कवि के छन्द गुनगुनाता है।

संस्कृति का रूप इससे कहीं व्यापक है। ज्ञानवान् मनुष्य ही सुसंस्कृत है और क्षुद्र व्यवहार-जन्य बातों तक ही उसके संस्कार सीमित नहीं। ज्ञान के प्रसार के साथ-साथ संस्कृति का भी व्यापक प्रसार होगा और वर्गहीन समाज में—जहाँ धन ही मनुष्य की परख नहीं और रुपये के मोल संस्कृति नहीं बिकती—मनुष्य मात्र संस्कृति को अपना जन्म-सिद्ध अधिकार समझेगा।

उस नवीन जनसत्तात्मक संस्कृति की हम कुछ कल्पना कर सकते हैं। धन अथवा शक्ति की उपासना उस संस्कृति के अन्तर्गत न होगी और एक अनन्य रस और आनन्द उस साहित्य और कला में होंगे; जीवन के प्रति उसमें अदम्य उत्साह होगा।

यह चित्र निरा काल्पनिक नहीं। मास्को के नाटकगृहों में लाखों की भीड़ जमा होती है। वहाँ के वर्गहीन समाज में संस्कृति पैसे की क्रीतदासी नहीं और कला-जीवन से विमुख परियों के लोक से शरण नहीं लेती। जीवन की एक महत् शक्ति कला है और प्रगति की प्रतीक है। रूस के जन-समाज की कला आज प्रबल जीवन-शक्ति पाकर बढ़ रही है और किसी संकुचित गुट तक ही सीमित नहीं। यूरोप के पूँजीवाद में पले कला-

कार भी रूसी चित्रपट की नकल करते हैं और रूस के मज़दूर कलाकार गोर्की का घर-घर आदर है।

यह कहा जाता है कि कला और संस्कृति के मूल सिद्धांत अटल-अमर हैं। जीवन बदलता है, किंतु सत्य शाश्वत है। हम देख चुके हैं कि संस्कृति का जीवन भी युग-धर्म मानकर चलता है। पहले संस्कृति पर उच्च कुलों का अधिकार था, फिर धनवानों का। यह बात हम सामूहिक संस्कृति के लिए कहते हैं, वैसे अनेक निम्न-कुल के निर्धन कलाकारों ने तपस्या कर संस्कृति की सेवा की है।

सत्य का रूप बदलता रहता है। आज यही सत्य हम मानकर चलते हैं कि मनुष्य-मनुष्य के बीच अन्तर रहेगा, जीवन का रस विरले ही लूट सकते हैं और परमात्मा धनी का साथ देता है! सत्य का यह नीचा रूप भी काल के गाल में विलीन हो जायगा और संस्कृति का यह संकुचित आदर्श भी बदलेगा कि वह एक सूक्ष्म गुट के ही उपभोग के लिए बनी है।

मनुष्य के बीच की दीवारें टूट रही हैं। इस जन-सत्ता के युग में जो व्यक्ति इस भ्रान्ति का प्रचार करते हैं कि समाज या संस्कृति का यह रूप स्थायी है, वे प्रगति के पथ में रोड़ा बनते हैं। कुछ देशों में सत्ता और शक्ति जनसमाज के हाथ में आ रही है। वहाँ चित्रशालाएँ खुल रही हैं, 'पार्क्स' में शाम को संगीत होता है, नित्य-प्रति 'रेडियो' समाचार वितरण करता है और उच्च कोटि का साहित्य सस्ती पुस्तकों द्वारा जनसमूह के पास पहुँच रहा है। हमारे देखते-देखते एक व्यापक विस्तृत संस्कृति का प्रसार जग में हो रहा है। फिर हम कैसे कह सकते हैं; 'जग बदलेगा किन्तु न जीवन ?'